॥ श्रीः ॥

विद्याभवन–संस्कृत–ग्रन्थमाला

४३



श्रीमद्दैवज्ञपण्डितसूर्यप्रणीतः

नृसिंहचम्पूः

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

सम्पादकः संस्कृतव्याख्याकारः भूमिकालेखकश्च—

डॉ० श्रीसूर्यकान्तशास्त्री, एम. ए., डी. लिट्.

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयस्थ—

संस्कृतपालीविभागाध्यक्षः

हिन्दीव्याख्याकारः—

साहित्याचार्यः श्रीराममूर्तित्रिपाठी, एम. ए.

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयाध्यापकः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१



०१६] मूल्यं २–५० [ई० १९५९

प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, संवत् २०१६

The Chowkhamba Vidya Bhawan

Chowk, Varanasi-1 (India)

1959

दो शब्द

चम्पू का लक्षण सर्वप्रथम दण्डी के काव्यादर्श (१.३१) में इस प्रकार मिलता है :—

'गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ।'

इसी को प्रकारान्तर से साहित्यदर्पण में यों लिया गया है :—

'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।'

इस परिभाषा में अतिव्याप्ति-दोष है; क्योंकि गद्य-पद्यमय होने के कारण नाटक भी इसमें आ जाता है। फलतः हेमचन्द्र ने चम्पू की परिभाषा इस प्रकार की है :—

'गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा चम्पूः ।'

इसी का विकास करके बाद में चम्पू का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

'गद्यपद्यमयी साङ्का सोच्छ्वासा कविगुम्फिता ।
उक्तिप्रत्युक्तिविष्कम्भशून्या चम्पूरुदाहृता ॥'

इन लक्षणों में चम्पू-काव्य को सीमित कर दिया गया है। अङ्क और उच्छ्वास किसी चम्पूविशेष के गुण हो सकते हैं, उन्हें सभी पर लागू करना

उचित नहीं। इसी प्रकार कथोपकथन का प्रयोग होने पर भी चम्पू की आत्मा अक्षुण्ण बनी रह सकती है। वस्तुत चम्पू एक ऐसा काव्य है जिसमें जीवन के सरस काव्यमय तत्त्वों को पद्य में और केवल वर्णनात्मक अंगों को गद्य में निबद्ध किया जाता है। कवि अपने चित्रण में जब भावाविष्ट हो उठता है तब उसकी भाषा गद्य का परिधान छोड़कर छन्दोबद्ध हो जाती है। वस्तुत चम्पू एक सगीत-समन्वित काव्य-कथा है।

चम्पू-काव्य यद्यपि सस्कृत-साहित्य में अनेक हैं, किन्तु उनका समुचित विकास कुछ कारणों से नहीं हो पाया। प्रमुख कारण तो इसका यही है कि लक्षण ग्रन्थों ने चम्पू काव्य की परिभाषा कुछ ऐसे ढग से की जिससे चम्पू का विस्तृत क्षेत्र सकुचित-सा बन गया, जिसके कारण चम्पूकार अपनी मौलिकता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहे। किंतु चम्पू काव्य का एक बहुत ही उत्तम रूप बन सकता है, क्योंकि इसमें कवि को यह स्वतन्त्रता है कि वह विवरणात्मक अशों को गद्य के कलेवर मे रखकर अपने भावोद्रेक को स्वरगत कर दे, और इस प्रकार गद्य के सूत्र में पद्य कुसुमों की मनोहर माला गूथ दे।

ज्ञात चम्पुओं में त्रिविक्रम भट्ट का नलचम्पू सर्वप्रथम है। उसका समय ९१५ ई० के आस पास है। दिगम्बर जैन सोमप्रभ सूरि का यशस्तिलक चम्पू ९५९ ई० के आस-पास है। ये दो दोनों चम्पू चम्पू-साहित्य में विशेष महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त हरिचन्द्र का जीवधर चम्पू, भोज के नाम पर रामायण चम्पू, अनन्तभट्ट का भारतचम्पू भी उल्लेख्य हैं। भागवत चम्पू नामक तीन रचनाएं उपलब्ध हैं —इनके कर्ता हैं चिदम्बर, रामभद्र और राजनाथ।

नृसिंह चम्पू नामकी भी चार रचनाएं हैं। इनके कर्ता हैं केशव भट्ट,

नारायण, दैवज्ञ सूर्य और संकर्षण। इनके अतिरिक्त कुछ और चम्पू भी प्रकाशित हुए हैं जिनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

समरपुङ्गव दीक्षित	: (तीर्थ) यात्रा-प्रबन्ध
तिरुमलाम्बा	: वरदाम्बिकापरिणय
वेङ्कटाध्वरिन्	: विश्वगुणादर्श
अन्नयार्य	: तत्त्वगुणादर्श
कवितार्किकसिंह वेदान्ताचार्य	: वेदान्ताचार्य-विजय
रामचन्द्र चिरञ्जीव भट्टाचार्य	: विद्वन्मोदतरङ्गिणी
कृष्ण	: मन्दारमरन्द
रघुनाथ दास	: मुक्ता-चरित
जीव गोस्वामिन्	: गोपालचम्पू
परमानन्ददास सेन	: आनन्दवृन्दावन

इत्यादि

उपर्युक्त चम्पूकारों में दैवज्ञ सूर्य-विरचित नृसिंहचम्पू ही हमारा प्रतिपाद्य विषय है। दैवज्ञ-सूर्य का काल अनिश्चित सा है। ए. एन. दास गुप्त और एस. के. दे के संस्कृत साहित्य के इतिहास (पृ. ४३७ टि. ६) में सूर्य दैवज्ञ-विरचित कंसवध नामक नाटक का भी उल्लेख है। इन्होंने नृसिंहचम्पू के प्रथमोच्छ्वास के चतुर्थ श्लोक में अपने को ज्ञानराज का पुत्र बतलाया है। इससे अधिक इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।

नृसिंहचम्पू का प्रस्तुत संस्करण इंडिया आफिस पुस्तकालय की एक हस्तलिपि के फोटो पर आधृत है, जिसे हमने लाहौर में १९४५ में वहां से मंगाया

था। उस हस्तलिपि में मूल चम्पूमात्र था, जिसका समझना छात्रों के लिये दुःसाध्य था। फलतः उसकी संस्कृत टीका हमें स्वयं करनी पड़ी, जो कि आज पाठकों के संमुख प्रस्तुत है। टीका की प्रामाणिकता के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। इसकी उपादेयता पाठकों की सहृदयता पर निर्भर है।

संभवतः इस सस्करण में और इस टीका में कुछ त्रुटियां रह गई हों। उनके लिये हम विद्वानों से क्षमा चाहते हैं।

सूर्य दैवज्ञ पण्डित एवं तत्त्वज्ञानी वैष्णव थे। श्रीमद्भगवद्गीता पर इनकी परमार्थ प्रभा टीका प्रसिद्ध है; जिसमें जगह-जगह इन्होंने ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्रों का सहारा लिया है और बहुत से स्थलों पर गीता का अपना अलग ही व्याख्यान किया है।

नृसिंहावतार में नर नारायण का सर्वोत्तम समन्वय हुआ था। दोनों के इसी समन्वित रूप को सूर्य दैवज्ञ ने अपने गद्य पद्य समन्वित चम्पू में प्रसाधित किया है।

अपने कुमारसंभव के संस्करण में हमने शिव पार्वती स्कन्द के समन्वित रूप की आराधना की है। प्रस्तुत चम्पू के व्याख्यान द्वारा हमने नर नारायण के संवलित रूप की आराधना करके अपने जीवन को कृतकृत्य किया है।

जीवन की संध्या में शिव विष्णु की चर्चा करके हम अपने आप को कृतकृत्य कर रहे हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
११-६-५९

सूर्यकान्त

भूमिका

संसार में जब-जब पाप का बोलबाला होता है तब-तब उसके निरास के लिये भगवान् धराधाम पर आते और त्रस्त मानव जाति का उद्धार करते हैं। भगवान् के इन अवतारों में नृसिंह अवतार का अपना निराला महत्त्व है—क्योंकि इस अवतार में भगवान् ने मानव का रूप धारण करके उसे नृम्णता की परा कोटि पर पहुंचा दिया था और इसके द्वारा मानव जाति के संमुख शालीन वीरता का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

नृसिंहावतार का वर्णन पुराणों में स्थान-स्थान पर आता है और हर वर्णन में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो कि अन्य वर्णनों में नहीं मिलतीं। इन वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से नृसिंह एवं प्रह्लाद के आविर्भाव-क्रम पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। फलतः नृसिंहावतार के वर्णनों का सिंहावलोकन उपाख्यान के मर्म को हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है।

ब्रह्मपुराण के २१३ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

वाराह एष कथितो नारसिंहस्ततो द्विजाः। यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः॥ ४३॥
पुरा कृतयुगे नाम सुरारिर्बलदर्पितः। दैत्यानामादिपुरुषः चकार सुमहत्तपः॥ ४४॥
दश वर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च। जपोपवासनिरतः तस्थौ मौनव्रतस्थितः॥ ४५॥
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि। प्रीतोऽभवत्ततस्तस्य तपसा नियमेन च॥ ४६॥
तं वै स्वयंभूर्भगवान् स्वयमागम्य भो द्विजाः। विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता॥ ४७॥
आदित्यैर्वसुभिः सार्धं मरुद्भिर्दैवतैस्तथा। रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः॥ ४८॥
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैः सुरैस्तथा। ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत्॥ ४९॥

ब्रह्मोवाच—

प्रीतोऽस्मि तव भक्त्याऽहं तपसाऽनेन सुव्रत। वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥ ५०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः। ऋषयो वाऽथ मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह॥ ५१॥
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया। न शस्त्रेण न वाऽस्त्रेण गिरिणा पादपेन वा॥ ५२॥
न शुष्केण न चार्द्रेण न चैवोर्ध्वं न चाप्यधः। पाणिप्रहारेणैकेन सभृत्यबलवाहनम्॥ ५३॥
यो मां नाशयितुं शक्तः स मे मृत्युर्भविष्यति। भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः॥ ५४॥

सलिलं चान्तरिक्षं च आकाशं चैव सर्वशः । अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोवाच—एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वान्कामानिमांस्तात प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥ ५६ ॥

व्यास उवाच—
एवमुक्त्वा तु भगवान् जगामाशु पितामहः । वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ ५७ ॥
ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा । वरप्रदानं श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः ॥ ५८ ॥

देवा ऊचुः—
वरेणानेन भगवन् वधिष्यति स नोऽसुरः । तत्प्रसीदाशु भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम् ॥
भगवन् सर्वभूतानां स्वयंभूरादिकृत्प्रभुः । स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तं प्रकृतिर्ध्रुवम् ॥६०॥

व्यास उवाच—
ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः । प्रोवाच भगवान्वाक्यं सर्वदेवगणांस्तथा ॥६१॥

ब्रह्मोवाच—
अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् । तपसोऽन्ते च भगवान् वधं विष्णुः करिष्यति ॥

व्यास उवाच—
एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे वाक्यं पङ्कजजन्मनः ।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥ ६३ ॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥६४।
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन्वै संशितव्रतान् । सत्यधर्मरतान्दान्तान् तदा धर्षितवांस्तथा ॥६५॥
त्रिदिवस्थांस्तथा देवान् पराजित्य महाबलः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति सोऽसुरः ॥६६॥
यदा वरमदोन्मत्तो विचरन्दानवो भुवि । यज्ञीयानकरोद्दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः ॥६७॥
आदित्या वसवः साध्या विश्वे च मरुतस्तथा । शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् ॥६८॥
देवब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं सनातनम् । भूतं भव्यं भविष्यं च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ॥
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥ ६९ ॥

देवा ऊचुः—
त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्भयात् । त्वं हि नः परमो देवस्त्वं हि नः परमो गुरुः ॥
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम । उत्फुल्लामलपत्राक्ष शत्रुपक्षक्षयंकर ॥
क्षयाय दितिवंशस्य शरणं त्वं भवस्व नः ॥ ७१ ॥

वासुदेव उवाच—
भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिलप्स्यथ मा चिरम् ॥७२॥
एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्मि तम् ॥ ७३ ॥

व्यास उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । हिरण्यकशिपोः स्थानमाजगाम महाबलः ॥
नरस्यार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं प्रभुः । नारसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥ ७५ ॥
घनजीमूतसंकाशो घनजीमूतनिस्वनः । घनजीमूतदीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ॥ ७६ ॥
दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा दृप्तशार्दूलविक्रमः । दृप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं हतवानेकपाणिना ॥ ७७ ॥

उद्धरण का सार यों हैः—

कृतयुग में दैत्यकुलावतंस हिरण्यकशिपु ने सहस्रों वर्ष घोर तप करके ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे वर मांगा कि ऋषि-मुनि-देव, गन्धर्व, किन्नर आदि में से कोई भी उसे शाप न दे सके, और अस्त्र, शस्त्र, पर्वत, वृक्ष आदि किसी भी प्रहार से किसी भी ओर से, उसका वध न हो सके। जो व्यक्ति एक ही चपेट से ससैन्य एवं सबन्धु-बान्धव उसे मार सके वही उसकी मृत्यु का कारण बने। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, वरुण आदि सभी देवता उसके आत्मसात् बन जायँ और इस प्रकार त्रिलोकी में शिव के समान उसी की तूती बजती रहे। एवमस्तु कह कर ब्रह्मा अपने आस्पद की ओर चल पड़े और इधर देवता लोग उनके इस वरदान से त्रस्त हो उनकी सेवा में पहुँच कर फरयाद करने लगे कि आपका उक्त वर पाकर तो यह दैत्यराट् आपे से बाहर हो प्राणिजात पर अत्याचार की आँधी चला देगा। भगवन्! इसे वश में रखिये और इसके वध का उपाय सोचिये। उनके अनुनय-विनय पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा बोले—तप का फल तो दैत्यराट् को मिलकर ही रहेगा। किंतु जब मदोन्मत्त होकर वह अत्याचार की पराकोटि पर जा पहुँचेगा तब विष्णु भगवान् नृसिंहावतार लेकर उसका संहार कर देंगे।

वर का मिलना था कि दैत्यराट् आपेको भूल चराचर पर अत्याचार की आग उगलने लगा और सब देवताओं को अपने वश में करके स्वर्ग का स्वामी बन बैठा। उसने उनका यज्ञांश छीन कर स्वयं भोगना आरंभ कर दिया। इस बात ने देवताओं पर जले पर नमक छिड़कने का काम किया और वे कांदिशीक हो विष्णु की सेवा में पहुँचे। आर्त जनवर्ग की टेर को सुनकर विष्णु भगवान् पसीज गए और उन्होंने नृसिंह का अवतार धारण करके कंचनकान्त दैत्यराट् का संहार कर, संसार को विपत्सागर से उबारा।

प्रत्यक्षतः इस कथानक में प्रह्लाद का नाम कहीं नहीं आता। हिरण्यकशिपु के परिवार में भी उनका संकेत नहीं है। नृसिंहावतार का कारण इस कथानक के अनुसार जन-जनपद का त्रास है न कि प्रह्लाद की यातनाएँ, और यह बात नृसिंहोपाख्यान में ध्यान देने योग्य है।

स्कन्दपुराण के अवन्ती क्षेत्र—माहात्म्य नामक पांचवें खण्ड के ६६ वें अध्याय में नृसिंहचरित की आख्यानिका इस प्रकार है:—

सनत्कुमार उवाच—

भूयः शृणु परं व्यास तीर्थानामुत्तमं वरम् । तत्तीर्थं सर्वपापघ्नं नृसिंहस्य महात्मनः ॥१॥
यस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापं प्रमुच्यते । दैत्यराजः समाख्यातो हिरण्यकशिपुः पुरा ॥२॥
तेनेयं वसुधा सर्वा समाप्ता च दुरात्मना । दुष्टदैत्यबलैर्व्याप्ता भाराक्रान्ता प्रपीडिता ॥३॥
गौर्भूत्वाऽश्रुमुखी देवैर्ब्रह्माणं शरणं ययौ । भाराक्रान्तां धरां दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ४ ॥
उवाच श्लक्ष्णया वाचा श्रमं तस्या व्यपोहितुम् । श्रूयतां मोऽवने पुण्ये भवत्या उपकारकम् ॥
वचो वदामि ते तथ्यं देशकालोचितं तथा । पुरानेन तपश्चीर्णं दुष्करं सर्वदेहिनाम् ॥ ६ ॥
वायव्भुनाशना तेन कृतं सुनियतात्मना । मया चास्य वरो दत्तः प्रीतियुक्तेन चेतसा ॥ ७ ॥
न दिवा न तथा रात्रौ नान्तरिक्षे न भूतले । नातिशुष्केण चार्द्रेण न चास्त्रशस्त्रपातनैः ॥८॥
न देवासुरगन्धर्वैर्न यक्षोरगकिन्नरैः । पिशाचैर्गुह्यकाद्यैश्च राक्षसैर्न कदाचन ॥ ९ ॥
मानवैः पक्षिजातैश्च न मे मृत्युर्भवेदिति । एवं करतलाघातैः सकुलं सवाहनम् ॥ १० ॥
मारयिष्यति मा वीर न मे मृत्युर्भविष्यति । तथेत्युक्त्वाऽतिहृष्टात्मा तमहं च तदावने ॥११॥
आगम चैव लोकं स्वं दैत्यो घोरशासनः । बभूव सर्वलोकानां शास्ता चातुलविक्रमः ॥१२॥
तस्यैवाधिकृता लोका बभूवुर्विगतज्वराः । त्रैलोक्यं बुभुजे नित्यं सर्वदैत्यजनेश्वरः ॥ १३ ॥
तस्मादेष वनं यात महाकालं महेशितुः । तत्र तीर्थं महच्चासीत् सर्वतीर्थवरोत्तमम् ॥ १४ ॥
सङ्गमेश्वरस्य दक्षिणे कर्कराजोत्तरे तथा । शिप्रातीरे शुभे देशे पूर्वं वैकुण्ठसन्निभम् ॥ १५ ॥
नृसिंहाख्यं परं धाम तस्य तीर्थं प्रतिष्ठितम् । तत्र गत्वा सुरश्रेष्ठाः स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥
कुरुत सत्वरं सर्वे पुनर्लोकानवाप्स्यथ । ते तस्य वचनं श्रुत्वा देवा इन्द्रपुरोगमाः ॥ १७ ॥
महाकालवनं प्राप्ता यत्र शिप्रा पयस्विनी । नृसिंहतीर्थोपकूले उषित्वा शाश्वतीः समाः ॥१८॥
स्नानदानादिकं कृत्वा नृसिंहस्यार्चनं तथा । एवं कृत्वा विधानेन परां सिद्धिमितो गताः ॥१९॥
नृसिंहस्य स्वरूपेण हतो दानवपुङ्गवः । सभामध्ये तदा व्यास हरिणाऽमितपाणिना ॥ २० ॥
करेणैकप्रहारेण हिरण्यकशिपुर्हतः । ततः सुरगणाः सर्वे स्वाधिकारान्प्रपेदिरे ॥ २१ ॥

शिवपुत्र कुमार कार्त्तिकेय की अर्चना में रचे गये स्कन्दपुराण में पहुँच कर नृसिंह की कथा कुछ बिखरा-सी गई है और यहाँ देव-गन्धर्व किन्नरों की ओर से स्वयं धरा ब्रह्मा जी से विश्व के त्राण की भिक्षा माँगती है। ब्रह्मा पृथ्वी को दैत्यराज की अतुल तपस्या के विषय में बताते और उसके बदले में उसे दिये अपने वर की भी चर्चा करते हैं। साथ ही वे देव-वर्ग को सङ्गमेश्वर से दक्षिण, कर्कराज से उत्तर, शिप्रा नदी के तट पर वैकुण्ठ के समान प्रतिष्ठित 'नृसिंहधाम' पर स्नानादि करने की सलाह भी देते हैं। उनका आदेश पाकर देव-गन्धर्व नृसिंहतीर्थ में जाकर विधिवत् स्नान ध्यानादि करके अपने को कृतकृत्य करते और अभिलषित फल की प्राप्ति करते हैं। उनकी तपश्चर्या से प्रसन्न हो भगवान् विष्णु ने नृसिंहावतार धारण करके एक ही चपेट में हिरण्यकशिपु का संहार कर दिया और इस प्रकार उसके प्रचण्ड आतङ्क से विश्व का उद्धार किया।

स्कन्दपुराण के उपाख्यान में एवं पूर्वोद्धृत उपाख्यान में ध्यान देने योग्य साम्य यह है कि इन दोनों में दैत्यराट् अपनी मृत्यु ऐसे वीर से मांगता है जो कि एक ही चपेट में सकुलबलवाहन उसका विनाश कर दे। दोनों का भेद तो सुतरां स्पष्ट है ही। यहां देवताओं की ओर से पृथ्वी ब्रह्मा के पास पहुँचती है। उपाख्यान के संघटन में भी कुछ बहकी-सी जोड़-तोड़ दीख पड़ती है। उदाहरण के लिये एक ही बात को ले लीजिये।

अभी नृसिंह ने धरा पर हिरण्यकशिपु का संहार भी नहीं किया कि उनके नाम पर तीर्थ पहले की स्थापित हो गया जहाँ जाकर कि देवगण स्नान-ध्यान करते और इष्ट फल की प्राप्ति करते हैं। इस एक ही उदाहरण से वर्तमान पुराणों के ढांचे का लचरपन प्रत्यक्ष हो जाता है।

वायुपुराण के द्वितीय भाग के छठे अध्याय में नृसिंहचरित्र का वर्णन इस प्रकार है:—

ऋषय ऊचुः—

दैत्यानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्। सर्वभूतपिशाचानां पशूनां पक्षिवीरुधाम्॥
उत्पत्तिं निधनं चैव विस्तरात् कथयस्व नः॥ ४८॥
एवमुक्तस्तदा सूत उवाच ऋषिसत्तमान्। दितेः पुत्रद्वयं जज्ञे कश्यपादिति नः श्रुतम्॥४९॥
कश्यपस्यात्मजौ तौ वै सर्वेभ्यः पूर्वजौ स्मृतौ। सूत्येऽन्यतिरात्रस्य कश्यपस्याश्वमेधिके॥५०॥
हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथमं ऋत्विगासनम्। दित्या गर्भाद् विनिःसृत्य तत्रासीनोच्चसंसदि॥
हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृतः॥ ५१॥

ऋषय ऊचुः—

हिरण्यकशिपोर्नाम जन्म चैव महात्मनः। प्रभावं चैव दैत्यस्य विस्तराद् ब्रूहि नः प्रभो॥५२॥

सूत उवाच—

कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्यो वै पुष्करे पुरा। ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरुपशोभितः॥५३॥
उत्कृष्टेनैव विधिना आख्यानादौ यथाविधि। आसनान्युपक्लृप्तानि काञ्चनानि तु पञ्च वै॥५४॥
कुशपूतानि त्रीण्यत्र कूर्च(—र्चः?)फलकमेव च। मुख्यर्त्विजश्च चत्वारस्तेषां तान्युपकल्पयेत्॥
शुभं तत्रासनं यत्तु होतुरर्थे प्रकल्पितम्। हिरण्मयं तथा दिव्यं दिव्यास्तरणसंस्तृतम्॥५६॥
अन्तर्वत्नी दितिश्चैव पत्नीत्वं समुपागता। दशवर्षसहस्राणि गर्भस्तस्या अवर्तत॥ ५७॥
स तु गर्भाद् विनिःसृत्य मातुर्वै उदरात्तदा। उपक्लृप्तासनं यत्तु होतुरर्थे हिरण्मयम्॥
निषसाद स गर्भोऽत्र तत्रासीनः शशंस च॥ ५८॥
आख्यानपञ्चमान् वेदान् महर्षिः काश्यपो यथा।
तं दृष्ट्वा मुनयस्तस्य नामाकुर्वस्तु तद्विधम्॥ ५९॥
हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन विश्रुतः।
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य सिंहिका तस्य चानुजा। राहोः सा जननी देवी विप्रचित्तेः परिग्रहात्॥

हिरण्यकशिपुर्दैत्यश्चचार परम तप । शत वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यधःशिरा ॥ ६१ ॥
त ब्रह्मा छन्दयामास दैत्य तुष्टो वरेण तु । सर्वामरत्व विप्रेभ्य सर्वभूतेभ्य एव च ॥
योगाद् देवान् विनिर्जित्य सर्वदेवत्वमास्थित ॥ ६२ ॥
दानवाश्चासुराश्चैव देवा सर्वा भवन्तु मे । मारुतयन् महेश्वरमेष मे दीयता वर ॥ ६३ ॥
एवमुक्तोऽथ ब्रह्मा तु तस्मै दत्त्वा यथेप्सितम् ।
दत्त्वा तस्मै वरान् दिव्यान् तत्रैवान्तरधीयत ॥
हिरण्यकशिपुर्दैत्य श्लोकैर्गीत पुरातनै ॥ ६४ ॥
राजा हिरण्यकशिपुर्यां यामाशा निषेवते । तस्यास्तस्या दिशो देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभि ॥६५॥
एवप्रभावो दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुर्द्विजा । तस्यासीन्नरसिंह स विष्णुर्मृत्यु पुरा किल ॥
नखैस्तु तेन निर्भिन्नस्तन शुद्धा नखा स्मृता ॥ ६६ ॥
हिरण्याक्षसुता पञ्च विक्रान्ता सुमहाबला । उत्कुर शकुनिश्चैव कालनाभस्तथैव च ॥६७॥
महानाभश्च विक्रान्तो भूतसन्तापनस्तथा । हिरण्याक्षसुता ह्येते देवैरपि दुरासदा ॥ ६८ ॥
तेषा पुत्राश्च पौत्राश्च बाहेय सगण स्मृत । शत तानि सहस्राणि निहतास्तारकामये ॥६९॥
हिरण्यकशिपो पुत्राश्चत्वारस्तु महाबला । प्रह्लाद पूर्वजस्तेषामनुह्लादस्तथैव च ॥
सह्लादश्च ह्रदश्चैव ह्रदपुत्रान्निबोधत ॥ ७० ॥

भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से इस वर्णन के निकटतम पहुँचा हुआ दूसरा वर्णन हमें ब्रह्माण्डपुराण (द्वितीय) के पाँचवें अध्याय में इस प्रकार मिलता है —

सूत उवाच—

दिते पुत्रद्वय जज्ञे कन्या चैका महाबला । कश्यपस्यात्मजौ तौ तु सर्वेभ्य पूर्वजौ स्मृतौ ॥३॥
सोऽयेऽऽह्न्यतिरात्रस्य कश्यपस्याश्वमेधिका । हिरण्यकशिपुर्नाम प्रथित पृथगासनम् ॥ ४ ॥
दित्या गर्भाद् विनि सृत्य तत्रासीन समन्तत ।
हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत ॥ ५ ॥

ऋषय ऊचु —

हिरण्यकशिपोर्जन्म नाम चैव महात्मन । प्रभाव चैव दैत्यस्य विस्तराद् ब्रूहि न प्रभो ॥

सूत उवाच—

कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत् पुण्ये वै पुष्करे तदा । ऋषिभिर्देवताभिश्च गन्धर्वैरप्सरोभिर ॥ ७ ॥
उत्तमेऽध्वरे च विधिना आख्यानादौ यथाविधि । आसनान्युपक्लृप्तानि सौवर्णानि तु पञ्च वै ॥
कुशस्तदापि सौम्यत्र कूर्च फलकमेव च । मुख्यान्यिजस्तु चत्वारस्तासां तान्युपकल्पयन् ॥९॥
बभूव तत्रासन चैकं होतुरर्थे हिरण्मयम् । नियमाद् स गर्भोऽत्र तत्रासीन शंस च ॥ १० ॥
अन्वाख्यानमानुपूर्व्येण महर्षि कश्यपो यथा । त दृष्ट्वा ऋषयस्तस्य नाम कुर्वन्ति वर्धितम् ॥
हिरण्यकशिपुस्तस्मात् कर्मणा तेन स स्मृत । हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य सिंहिका तस्य चानुजा ॥
राहो सा जननी देवी विप्रचित्ते परिग्रह । हिरण्यकशिपुर्दैत्यश्चचार परम तप ॥ १३ ॥

शतं वर्षसहस्राणां निराहारो ह्यधःशिराः । वरयामास ब्रह्माणं तुष्टं दैत्यो वरेण तु ॥ १४ ।
सर्वामरत्वमवधं सर्वभूतेभ्य एव हि । योगाद् देवान् विनिर्जित्य सर्वदेवत्वमास्थितः ॥१५।
कारयेऽहमिहैश्वर्यं बलवीर्यसमन्वितः । दानवास्त्वसुराश्चैव देवाश्च सह चारणैः ॥ १६ ॥
भवन्तु वशगाः सर्वे मत्समीपानुभोजनाः । आर्द्रशुष्कैरवध्यश्च दिवा रात्रौ तथैव च ॥
एवमुक्तस्तदा ब्रह्मानुजज्ञे सांप्रतं वरम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाचः—

महानयं वरस्तात वृतो दितिसुत त्वया । ह्येदानीं प्रतिज्ञानं भविष्यत्येवमेव तु ॥ १८ ॥
दत्त्वा चाभिमतं तस्मै तत्रैवान्तरधादथ । सोऽपि दैत्यस्तदा सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥१९॥
महिम्ना व्याप्य संतस्थे बहुमूर्तिरमित्रजित् । स एव तपति व्योम्नि चन्द्रसूर्यत्वमास्थितः ॥
स एव वायुर्भूत्वा च ववौ जगति सर्वदा । स गोपालोऽविपालश्च कर्षकश्च स एव ह ॥
स ज्ञाता सर्वलोकेषु मन्त्रव्याख्याकरस्तथा । नेता गोप्ता गोपयिता दीक्षितो याजकः स तु ॥
तस्य देवाः सुराः सर्वे तदासन् सोमपायिनः । एवंप्रभावो दैत्योऽसावतो भूयो निबोधत ॥
तस्मै सर्वे नमस्कारं कुर्वन्तीज्यः स एव च । हिरण्यकशिपोर्दैत्यैः श्लोको गीतः पुरा त्विह ॥
हिरण्यकशिपू राजा यां यामाशां निरैक्षत । तस्यै तस्यै तदा देवा नमश्चक्रुर्महर्षिभिः ॥२५॥
तस्यासीन्नरसिंहस्तु मृत्युर्विष्णुः पुरा किल । नरात्तु यस्माज्जन्मास्य नरमूर्तिश्च यत्प्रभुः ॥२६॥
तस्मात् स नरसिंहो वै गीयते वेदवादिभिः । सागरस्य च वेलायामुच्छ्रितस्तपसो विभुः ॥
शरीरं तस्य देवस्य ह्यासीद्देवमयं प्रभो । नाम्ना सुदर्शनं चैव विश्रुतश्च महाबलः ॥ २८ ॥
ततः स बाहुयुद्धेन दैत्येन्द्रं तं महाबलम् । नखैर्बिभेद संक्रुद्धो नार्द्राः शुष्का नखा इति ॥२९॥
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः सुमहाबलाः ।
प्रह्लादः पूर्वजस्तेषामनुह्लादस्तथापरः । सह्लादश्चैव ह्लादश्च ह्लादपुत्रौ निबोधत ॥
सुंदो निसुंदश्च तथा ह्लादपुत्रौ बभूवतुः ॥ ३० ॥

ऊपर उद्धृत किये दोनों उपाख्यानों में न केवल भावसाम्य व्यक्त है अपितु भाषा एवं छन्द का साम्य भी ध्यान को पकड़ लेता है। कश्यप ऋषि अश्वमेध रचते और उसमें होता के लिये एक हिरण्मयासन बिछाते हैं। माता दिति के गर्भ में सैकड़ों वर्ष झाँकने वाला बालक माता के उदर से निकल इस आसन पर आ बैठता है और इस हिरण्मयासन पर बैठने के कारण ही उसका नाम 'हिरण्यकशिपु' पड़ जाता है ! इसके अनुज का नाम हिरण्याक्ष एवं बहिन का नाम सिंहिका रखा गया। आगे चलकर यही सिंहिका राहु की जननी बनी।

जन्मजात मनीषी हिरण्यकशिपु ने सैकड़ों वर्ष घोर तप किया और इस अमोघ तपश्चर्या के बल पर उसने ब्रह्मा से अवध्यत्व का वरदान पाया। वर में साफ तौर से मांग की गई थी कि सूखे या गीले किसी भी पदार्थ से उसकी क्षति न होने पावे। ब्रह्मा से दैत्य को वर मिल गया और वर की सफलता के साथ-साथ देवताओं से वैर की भावना भी उसमें बलवती होती गई। यहाँ तक कि कुछ ही काल में वह देवताओं का स्वामी बन

बैठा और सारे ही देवताओं में उस एक की ही प्रतिमा काम करती दीखने लगी। यज्ञ अब उनके हो गए और तपश्चरण की प्रक्रिया पर अब उनकी धाक बैठ गई। विश्व का सन्तर्पण आदि आदि करने लगा। विष्णु का आसन हिल गया और उन्होंने नृसिंह का अवतार लेकर अपने नखों से दैत्यराज का काम तमाम कर दिया। नख इसी कारण पवित्र बन गए।

हिरण्यकशिपु के चार महाबली पुत्र हुए—प्रह्लाद, अनुह्लाद, संह्लाद और ह्लाद। ह्लाद के दो महापराक्रमी पुत्र हुए सुन्द और निसुन्द।

पुराणों के संशोधन की दृष्टि से दोनों वर्णन अत्यन्त महत्त्व के हैं। इनके श्लोकों की तुलनात्मक विवेचना से व्यक्त हो जाता है कि किस त्वरा एवं विवेकहीनता के साथ वर्तमान पुराणों का सङ्कलन किया गया है। उदाहरण के लिये लीजिये हिरण्यकशिपु के पुत्रों की नामावलि को। दोनों पुराणों में यह किस प्रकार नगण्य भेद के साथ आई है, किंतु इन दोनों में मिलने वाला भेद पुराणसम्पादन की दृष्टि से कितने महत्त्व का है।

पाठदृष्टि से तुलना कीजिये वायुपुराण के ५० वें श्लोक की और ब्रह्माण्डपुराण के नवम श्लोक को जिसमें कुलवृद्धावपि सम्भवत कुलभूतानि के स्थान पर है।

दोनों उपाख्यानों में प्रह्लाद का नाम तो आता है किंतु नृसिंह भगवान् उनके त्राण के लिये अवतार नहीं धारण करते, अपितु देवगन्धर्वों के त्रास हरण के लिये धराधाम पर पधारते हैं।

कूर्मपुराण के १६ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है—

देवा ऊचुः—

हिरण्यकशिपुर्नाम ब्रह्मणो वरदर्पितः। बाधते भगवन्दैत्यो देवान्सर्वान् सहर्षिभिः॥
अवध्यः सर्वभूतानां त्वामृते पुरुषोत्तमम्। हन्तुमर्हसि सर्वेषां त्राताऽसि त्वं जगन्मय॥
श्रुत्वा तद्दैवतैरुक्तं स विष्णुर्लोकभावनः। वधाय दैत्यमुख्यस्य सोऽसृजत्पुरुषं स्वयम्॥
मेरुपर्वतवर्ष्माणं घोररूपं भयानकम्। शङ्खचक्रगदापाणिं तं प्राह गरुडध्वजः॥
हत्वा तं दैत्यराजानं हिरण्यकशिपुं पुनः। इमं देशं समागन्तुं क्षिप्रमर्हसि पौरुषात्॥
निशम्य वैष्णवं वाक्यं प्रणम्य पुरुषोत्तमम्। महापुरुषमव्यक्तं ययौ दैत्यमहापुरम्॥
विमुञ्चन् भैरवं नादं शङ्खचक्रगदाधरः। आरुह्य गरुडं देवो महामेरुरिवापरः॥
आकर्ण्य दैत्यप्रवरा महामेघरवोपमम्। समं च चक्रिरे नादं तथा दैत्यपतेर्भयात्॥
कश्चिदागच्छति महान् पुरुषो देवचोदितः। विमुञ्चन् भैरवं नादं न जानीमो जनार्दनम्॥
ततः महासुरैर्हिरण्यकशिपुः स्वयम्। सन्नद्धैः सायुधैः पुत्रैः प्रह्लादाद्यैस्तदा ययौ॥
दृष्ट्वा तं गरुडारूढं सूर्यकोटिसमप्रभम्।
पुरुषं पर्वताकारं नारायणमिवापरम्। दुद्रुवुः केचिदन्योन्यमूचुः सम्भ्रान्तलोचनाः॥
अयं स देवो देवानां गोप्ता नारायणो रिपुः। अस्माकमव्ययो नूनं तत्सुतो वा समागतः॥

इत्युक्त्वा शस्त्रवर्षाणि ससृजुः पुरुषाय ते। स तानि चाक्षतो देवो नाशयामास लीलया॥
हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारः प्रथितौजसः। पुत्रं नारायणोद्भूतं युयुधुर्मेघनिःस्वनाः॥
प्रह्लादश्चानुह्लादश्च संह्लादो ह्लाद एव च॥
प्रह्लादः प्राहिणोद् ब्राह्ममनुह्लादोऽथ वैष्णवम्। संह्लादश्चापि कौमारमाग्नेयं ह्लाद एव च॥
तानि तं पुरुषं प्राप्य चत्वार्यस्त्राणि वैष्णवम्। न शेकुश्चालितुं विष्णुं वासुदेवं यथातथम्॥
अथासौ चतुरः पुत्रान् महाबाहुर्महाबलः। प्रगृह्य पादेषु करैश्चिक्षेप च ननाद च॥
विमुक्तेष्वथ पुत्रेषु हिरण्यकशिपुः स्वयम्। पादेन ताडयामास वेगेनोरसि तं बली॥
स तेन पीडितोऽत्यर्थं गरुडेन सहानुगः। अदृश्यः प्रययौ तूर्णं यत्र नारायणः प्रभुः॥
गत्वा विज्ञापयामास प्रवृत्तमखिलं तदा। सञ्चिन्त्य मनसा देवः सर्वज्ञानमयोऽमलः॥
नरस्यार्द्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्द्धतनुं तथा। नृसिंहवपुरव्यक्तो हिरण्यकशिपोः पुरे॥
आविर्बभूव सहसा मोहयन्दैत्यदानवान्। दंष्ट्राकरालो योगात्मा युगान्तदहनोपमः॥
समारुह्यात्मनः शक्तिं सर्वसंहारकारिकाम्। भाति नारायणोऽनन्तो यथा मध्यंदिने रविः॥
दृष्ट्वा नृसिंहं पुरुषं प्रह्लादं ज्येष्ठपुत्रकम्। वधाय प्रेरयामास नरसिंहस्य सोऽसुरः॥
इमं नृसिंहं पुरुषं पूर्वस्मादूनशक्तिकम्। सहैव तेऽनुजैः सर्वैर्नाशयाशु मयेरितः॥
स तन्नियोगादसुरः प्रह्लादो विष्णुमव्ययम्। युयुधे सर्वयत्नेन नरसिंहेन निर्जितः॥
ततः सम्मोहितो दैत्यो हिरण्याक्षस्तदानुजः। ध्यात्वा पशुपतेरस्त्रं ससर्ज च ननाद च॥
तस्य देवाधिदेवस्य विष्णोरमिततेजसः। न हानिमकरोदस्त्रं यथा देवस्य शूलिनः॥
दृष्ट्वा पराहतं त्वस्त्रं प्रह्लादो भाग्यगौरवात्। मेने सर्वात्मकं देवं वासुदेवं सनातनम्॥
सन्त्यज्य सर्वशस्त्राणि सत्त्वयुक्तेन चेतसा। ननाम शिरसा देवं योगिनां हृदयेशयम्॥
स्तुत्वा नारायणं स्तोत्रैः ऋग्यजुःसामसम्भवैः। निवार्य पितरं भ्रातॄन् हिरण्याक्षं तदाब्रवीत्॥
अयं नारायणोऽनन्तः शाश्वतो भगवानजः। पुराणः पुरुषो देवो महायोगी जगन्मयः॥
अयं धाता विधाता च स्वयंज्योतिर्निरञ्जनः। प्रधानं पुरुषं तत्त्वं मूलप्रकृतिरव्यया॥
ईश्वरः सर्वभूतानामन्तर्यामी गुणातिगः। गच्छध्वमेनं शरणं विष्णुमव्यक्तमव्ययम्॥
एवमुक्ते सुदुर्बुद्धिः हिरण्यकशिपुः स्वयम्। प्रोवाच पुत्रमत्यर्थं मोहितो विष्णुमायया॥
अयं सर्वात्मना वध्यो नृसिंहोऽल्पपराक्रमः। समागतोऽस्मद्भवनमिदानीं कालचोदितः॥
विहस्य पितरं पुत्रो वचः प्राह महामतिः। मा निन्दस्वैनमीशानं भूतानामेकमव्ययम्॥
कथं देवो महादेवः शाश्वतः कालवर्जितः। कालेन हन्यते विष्णुः कालात्मा कालरूपधृक्॥
ततः सुवर्णकशिपुर्दुरात्मा कालचोदितः। निवारितोऽपि पुत्रेण युयुधे हरिमव्ययम्॥
संरक्तनयनोऽनन्तो हिरण्यनयनाग्रजम्। नखैर्विदारयामास प्रह्लादस्यैव पश्यतः॥
हते हिरण्यकशिपौ हिरण्याक्षो महाबलः। विसृज्य पुत्रं प्रह्लादं दुद्रुवे भयविह्वलः॥
अनुह्लादादयः पुत्रा अन्ये च शतशोऽसुराः। नृसिंहदेह-सम्भूतैः सिंहैर्नीता यमक्षयम्॥
ततः संहृत्य तद्रूपं हरिर्नारायणः प्रभुः। स्वमेव परमं रूपं ययौ नारायणाह्वयम्॥
गते नारायणे दैत्यः प्रह्लादोऽसुरसत्तमः। अभिषेकेण युक्तेन हिरण्याक्षमयोजयत्॥

स बाधयामास सुरांस्त्रीन् जित्वा मुनीनपि। लब्ध्वान्धक महापुत्रं तपसाराध्य शंकरम् ॥
देवाञ्जित्वा सदेवेन्द्रान् क्षुब्ध्वा च धरणीमिमाम्। नीत्वा रसातलं चक्रे वेदान्वै निष्प्रभांस्तथा ॥
ततः सब्रह्मका देवाः परिम्लानमुखश्रियः। गत्वा विज्ञापयामासुर्विष्णवे हरिमन्दिरम् ॥
स चिन्तयित्वा विश्वात्मा तद्वधोपायमव्ययः। सर्वदेवमयं शुभ्रं वाराहं वपुरादधे ॥
गत्वा हिरण्यनयनं हत्वा तं पुरुषोत्तमः। दंष्ट्रयोद्धारयामास कल्पादौ धरणीमिमाम् ॥
त्यक्त्वा वाराहसंस्थानं संस्थाप्यैव सुरद्विषः। स्वामेव प्रकृतिं दिव्यां ययौ विष्णुः परं पदम् ॥
तस्मिन्हतेऽमररिपौ प्रह्लादो विष्णुतत्परः। अपालयत्स्वकं राज्यं भावं त्यक्त्वा तदासुरम् ॥
यजते विविधैर्देवान् विष्णोराराधने रतः। निःसपत्नं सदा राज्यं तस्यासीद् विष्णुवैभवात् ॥
ततः कदाचिदसुरो ब्राह्मणं गृहमागतम्। न च सम्भाषयामास देवानाञ्चैव मायया ॥
स तेन तापसोऽत्यर्थं मोहितेनावमानितः। शशापासुरराजानं क्रोधसंरक्तलोचनः ॥
यद्बलं समाश्रित्य ब्राह्मणानवमन्यसे। सा शक्तिर्वैष्णवी दिव्या विनाशं ते गमिष्यति ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तूर्णं प्रह्लादस्य गृहाद् द्विजः। मुमोह राज्यसंसक्तः सोऽपि शापबलात्ततः ॥
बाधयामास विप्रेन्द्रान्न विवेद जनार्दनम्। पितुर्वधमनुस्मृत्य क्रोधं चक्रे हरिं प्रति ॥
तयोः समभवद् युद्धं सुघोरं रोमहर्षणम्। नारायणस्य देवस्य प्रह्लादस्यामरद्विषः ॥
कृत्वा स सुमहद् युद्धं विष्णुना तेन निर्जितः। पूर्वसंस्कारमाहात्म्यात् परस्मिन् पुरुषे हरौ ॥
सञ्जातं तस्य विज्ञानं शरण्यं शरणं ययौ ॥
ततः प्रभृति दैत्येन्द्रो ह्यनन्यां भक्तिमुद्वहन्। नारायणे महायोगमवाप पुरुषोत्तमे ॥

हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से उद्वेजित हो देवगण विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे और उन्होंने उनसे प्रार्थना की कि भगवन्! दैत्यराट् के चंगुल से जगती की रक्षा कीजिये।

देवताओं के आर्त वचन को सुन कर भगवान् विष्णु ने मेघपर्वताकार शङ्ख-चक्र गदाधारी महा भैरव को दैत्यराज के संहार के लिये पठाया। वह महापुरुष दैत्यराज की पुरी में आया और उसने वहाँ के दैत्यपुंगवों को प्रचारा। तुमुल युद्ध हुआ, किन्तु हिरण्यकशिपु के प्रह्लाद आदि चारों पुत्र महापुरुष का वार सहन न कर सके, बल्कि, उसकी मार से कातर हो वे समराङ्गण से भाग खड़े हुए। इस पर दैत्यराज ने स्वयं महापुरुष से लोहा लिया और उसने उसके वक्षःस्थल में ऐसी लात मारी कि वह रण में पराङ्मुख हो विष्णु भगवान् की शरण में भाग निकला। महापुरुष की पराजय को सुन कर विष्णु भगवान् स्वयं नृसिंह का रूप धारण करके राक्षसों से जूझने आए। उन्हें देख दैत्यराज ने अपने पुत्र प्रह्लाद को उनसे लोहा लेने के लिये पठाया। दोनों का तुमुल द्वन्द्व हुआ; प्रह्लाद मार खाकर भाग खड़ा हुआ। उसे भान हो गया कि उसका प्रतिद्वन्द्वी मर्त्य नहीं अपि तु स्वयं विष्णु भगवान् हैं। वह उनकी स्तुति करने लगा और उसने अपने पिता को भी युद्ध से उपरत हो उनकी शरण में जाने की सम्मति दी; किन्तु

दैत्यराज तो मद में चूर था ; बोला कि तुम सब कायर हो ; मैं अकेला इस नराधम को यमलोक पठाऊंगा। ऐसा कह कर भयंकर गर्जना करता हुआ वह नृसिंह पर चढ़ दौड़ा ; किंतु वात्या की चढ़ाई से पहाड़ का क्या बिगड़ता ? नृसिंह ने एक ही चपेट में उसके वक्ष को चीर डाला और इस प्रकार उसके आतंक से धरती माता का उद्धार किया।

हिरण्यकशिपु को इस प्रकार मरा देख उसका भाई हिरण्याक्ष भाग निकला और अब वहां केवल प्रह्लाद रह गया। कुछ काल पश्चात् प्रह्लाद ने अपने पितृव्य हिरण्याक्ष का राज्याभिषेक कर स्वयं विष्णु की आराधना आरंभ कर दी। सुख पाकर गर्वा कौन नहीं जाता ? हिरण्याक्ष ने शंकर के वरदान से अन्धक नाम का पुत्र पाकर देवताओं को सालना आरंभ कर दिया। देवता रो पड़े। उनकी टेर को सुन कर विष्णु भगवान् ने वराहावतार धारण कर उससे जगत् की रक्षा की। पितृव्य के दिवंगत हो जाने पर प्रह्लाद ने राज्य की बागडोर अपने हाथ संभाली। राजकाज का प्रपञ्च समझो अथवा स्वाभाविक वैभवमद ! राजा प्रह्लाद एक ब्राह्मण का निरादर कर बैठा। ब्राह्मण के मुंह से निकले शाप ने सांप बन कर प्रह्लाद को असंध बना दिया और अब वह भी प्रजा को सताने पर उतारू हो गया। विष्णु भगवान् से न रहा गया। वे आए और दोनों का रोमहर्षण द्वन्द्व हुआ। प्रह्लाद की हेठी हुई और तब वह फिर से भगवान् विष्णु का सच्चा आराधक बन गया।

कूर्मपुराण का यह उपाख्यान रोचक तत्त्वों की पुट से खिल उठा है। इसमें शंख-चक्र-गदाधारी महापुरुष का दैत्यराज के साथ लड़ने के लिये आना और उसका संहार करने में उनकी अक्षमता नृसिंहावतार की गरिमा में चार चांद लगा देते हैं और इस बात से उनके ओज एवं शौर्य में अनोखा पूर आ जाता है। नृसिंह के हाथों प्रह्लाद की पराजय उसकी आन्तरिक दृष्टि को खोल देती है और उसे परम तत्त्व का अनायास ही भान हो जाता है। राजगद्दी पर बैठ कर प्रह्लाद भी ब्राह्मण का निरादर कर देता है—'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' तो इसे ही कहते हैं। भक्त की आंख खोलने भगवान् तुरंत आते और जब आसानी से वे उसे नहीं जगा पाते तब कर्कश प्रहारों से वे उसकी नींद को दूर करते हैं। उन्निद्र प्रह्लाद फिर से भगवान् की आराधना में लग जाता है।

स्पष्ट है कि कूर्मपुराण का यह उपाख्यान पहले वर्णित उपाख्यानों से कहीं आगे निकल गया है ; क्योंकि जहां उनमें प्रह्लाद का नाम-संकेतन मात्र था वहां इस उपाख्यान में प्रह्लाद प्रतिनायक का भाग अदा करते हैं और वे अपने पिता के कहने पर विष्णु भगवान् से खुल कर लोहा लेते हैं। किंतु इस उपाख्यान में भी प्रह्लाद का पिता उसे यंत्रणा नहीं देता—यह सब तो बाद की बातें हैं—इनके उद्भावन में ही प्रस्तुत रचना की गरिमा सन्निहित है।

मत्स्यपुराण में नृसिंहोपाख्यान की पाखें भर जाती हैं और वह अपने प्रपूर्ण कलेवर में सज कर हमारे संमुख आता है। मत्स्यपुराण के १६१ वें अध्याय में यह उपाख्यान इस प्रकार आरंभ होता है :—

ऋषय ऊचुः —

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वधम्। नरसिंहस्य माहात्म्यं तथा पापविनाशनम्॥

सूत उवाच—

पुरा कृतयुगे विप्रा हिरण्यकशिपुः प्रभुः। दैत्यानामादिपुरुषश्चकार स महत्तपः॥ २॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। जलवासी समभवत्स्नानमौनधृतव्रतः॥ ३॥
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि। ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च॥ ४॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य तत्र हि। विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता॥ ५॥
आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्दैवतैस्तथा। रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः॥ ६॥
दिग्भिश्चैव विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा। नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्च महाग्रहैः॥ ७॥
देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा। राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वाप्सरसां गणैः॥ ८॥
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैर्दिवौकसैः। ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत्॥ ९॥
प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन सुव्रत। वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥ १०॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः। न मानुषाः पिशाचा वा हन्युर्मां देवसत्तम॥ ११॥
ऋषयो वा न मां शापैः शपेयुः प्रपितामह। यदि मे भगवान् प्रीतो वर एष वृतो मया॥१२॥
न चास्त्रेण न शस्त्रेण गिरिणा पादपेन च। न शुष्केण न चार्द्रेण न दिवा न निशाऽथवा॥
भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः। सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश॥ १४॥
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः। धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः॥ १५॥

ब्रह्मोवाच—

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः।
सर्वान्कामान्सदा वत्स प्राप्स्यसि त्वं न संशयः॥ १६॥

एवमुक्त्वा स भगवाञ्जगामाकाश एव हि। वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम्॥ १७॥
ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह। वरप्रदानं श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः॥ १८॥

देवा ऊचुः—

वरप्रदानाद् भगवन् वधिष्यति स नोऽसुरः।
तत्प्रसीदाशु भगवन् वधोऽप्यस्य विचिन्त्यताम्॥ १९॥

भगवन्सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः। स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्बुधः॥ २०॥
सर्वलोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः। आश्वासयामास सुरान् सुशीतैर्वचनाम्बुभिः॥
अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम्। तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं विष्णुः करिष्यति॥

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं सर्वे पङ्कजजन्मनः।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदान्विताः॥

लब्धमात्रे वरे चाथ सर्वाः सोऽबाधत प्रजाः। हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः॥२४॥

आश्रमेषु महाभागान् स मुनीन्संशितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥
देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥
यदा वरमदोत्सिक्तश्चोदितः कालधर्मतः । यज्ञियानकरोद्दैत्यान् अयज्ञियाश्च देवताः ॥२७॥
तदादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा । सेन्द्रा देवगणा यक्षाः सिद्धद्विजमहर्षयः ॥
शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥३०॥

त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः ।
त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥ ३१ ॥

विष्णुरुवाच—

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥३२॥
एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥३३॥
एवमुक्त्वा तु भगवान् विसृज्य त्रिदशेश्वरान् । वधं सकल्पयामास हिरण्यकशिपोः प्रभुः ॥
साहाय्यं च महाबाहुरोंकारं गृह्य सत्वरम् । अथोङ्कारसहायस्तु भगवान् विष्णुरव्ययः ॥३५॥
हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः । तेजसा भास्कराकारः शशीकान्त्येव चापरः ॥३६॥
नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा । नरसिंहेन वपुषा पाणिं संस्पृश्य पाणिना ॥३७॥

ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम् ।
सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् ॥ ३८ ॥

विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायताम् । वैहायसीं कामगमां पञ्चयोजनविस्तृताम् ॥
जराशोकक्लमापेतां निष्प्रकम्पां शिवां सुखाम् । वेश्महर्म्यवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा ॥
अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा । दिव्यरत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युताम् ॥ ४१ ॥
नीलपीतसितश्यामैः कृष्णैर्लोहितकैरपि । अवतानैस्तथा गुल्मैर्मंजरीशतधारिभिः ॥ ४२ ॥
सिताभ्रघनसङ्काशा प्लवन्तीव व्यदृश्यत । रश्मिवती भास्वरा च दिव्यगन्धमनोरमा ॥४३॥

सुसुखा न च दुःखा सा न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे ग्लानिं वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ॥ ४४ ॥

अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्तीव भास्करम् ॥४५॥
सर्वे च कामाः प्रचुराः ये दिव्या ये च मानुषाः । रसयुक्तं प्रभूतं च भक्ष्यभोज्यमनन्तकम् ॥४६॥
पुण्यगन्धस्रजश्चात्र नित्यपुष्पफलद्रुमाः । उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति च ॥४७॥
पुष्पिताग्रा महाशाखाः प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंछन्ना नदीषु च सरःसु च ॥४८॥
वृक्षान्बहुविधांस्तत्र मृगेन्द्रो ददृशे प्रभुः । गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च ॥४९॥
नातिशीतानि नोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च । अपश्यत् सर्वतीर्थानि सभायां तस्य स प्रभुः ॥
सुकान्तैर्धार्तराष्ट्रैश्च राजहंसैश्च सुप्रियैः । कारण्डवैश्चक्रवाकैः सारसैः कुररैरपि ॥ ५१ ॥

विमलै स्फटिकाभैश्च पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः । बहुहंसोपगीतानि सारसाभिरुतानि च ॥ ५२ ॥
नानापुष्पफलोपेता ल्वराजन्त समन्ततः । चकोराः शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः ॥५३॥
पुष्पिताः पुष्पिताग्रैश्च सम्पतन्ति महाद्रुमाः । रक्तपीतारुणास्तत्र पादपाग्रगता खगाः ॥५४॥
परस्परमवेक्षन्ते प्रहृष्टा जीवजीवकाः । तस्यां सभायां दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तदा ॥५५॥
स्त्रीसहस्रैः परिवृतो विचित्राभरणाम्बरः । अनर्घ्यमणिवज्रार्चिः शिखाज्वलितकुण्डलः ॥५६॥
आसीनश्चासने चित्रे दशनल्वप्रमाणतः । दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसंस्तृते ॥५७॥
दिव्यगन्धवहस्तत्र मारुतः सुसुखो ववौ । हिरण्यकशिपुर्दैत्य आस्ते ज्वलितकुण्डलः ॥५८॥
उपचेरुर्महादैत्यं हिरण्यकशिपुं तदा । दिव्यतानेन गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमाः ॥५९॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचेत्यभिविश्रुता । दिव्याऽथ सौरभेयी च समीची पुञ्जिकस्थली ॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रलेखा शुचिस्मिता ।
चारुकेशी घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥ ६१ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः । उपतिष्ठन्ति राजानं हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥६२॥
तत्राऽऽसीनं महाबाहुं हिरण्यकशिपुं प्रभुम् । उपासते दितेः पुत्राः सर्वे लब्धवरास्तथा ॥६३॥
तमप्रतिमकर्माणं शतशोऽथ सहस्रशः । बलिर्विरोचनस्तत्र नरकः पृथिवीसुतः ॥६४॥
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुरः । सुरहन्ता सुनामा च प्रमतिः सुमतिर्वरः ॥६५॥
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा । विश्वरूपः सुरूपश्च स्वबलश्च महाबलः ॥६६॥
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा महासुरः । घटास्योऽकम्पनश्चैव प्रजनश्चेन्द्रतापनः ॥६७॥
दैत्यदानवसङ्घास्ते सर्वे ज्वलितकुण्डलाः । स्रग्विणो वाग्मिनः सर्वे सदैव चरितव्रताः ॥६८॥
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः । एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥६९॥
उपासन्ति महात्मानः सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानैर्विविधाकारैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥७०॥
महेन्द्रवपुषः सर्वे विचित्राङ्गदबाहवः । भूषिताङ्गा दितेः पुत्रास्तमुपासन्त सर्वशः ॥७१॥
तस्यां सभायां दिव्यायामसुराः पर्वतोपमाः । हिरण्यवपुषः सर्वे दिवाकरसमप्रभाः ॥७२॥
न श्रुतं नैव दृष्टं हि हिरण्यकशिपोर्यथा । ऐश्वर्यं दैत्यसिंहस्य यथा तस्य महात्मनः ॥७३॥

अथ द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

सूत उवाच—

ततो दृष्ट्वा महात्मानं कालचक्रमिवागतम् । नरसिंहवपुश्छन्नं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥ १ ॥
हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान् । दिव्येन चक्षुषा सिंहमपश्यद्देवमागतम् ॥२॥
तं दृष्ट्वा रुक्मशैलाभमपूर्वां तनुमाश्रितम् । विस्मिता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥३॥

प्रह्लाद उवाच—

महाबाहो महाराज दैत्यानामादिसम्भव । न श्रुतं न च नो दृष्टं नारसिंहमिदं वपुः ॥ ४ ॥
अव्यक्तप्रभवं दिव्यं किमिदं रूपमागतम् । दैत्यान्तकरणं घोरं शंसतीव मनो मम ॥ ५ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितश्च याः । हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरादित्यैर्वसुभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रः शचीपतिः ॥ ७ ॥
मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षाः पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥८॥
ब्रह्मा देवः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति वै । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥ ९ ॥
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्वृतः । विमानशतसंकीर्णा तथैव भवतः सभा ॥ १० ॥
सर्वं त्रिभुवनं राजंल्लोकधर्माश्च शाश्वताः । दृश्यन्ते नारसिंहेऽस्मिन् तथेदमखिलं जगत् ॥

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च महीरुहाश्च ।
उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ १२ ॥
सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।
क्रोधश्च कफायश्च तथैव हर्षो धर्मश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ १३ ॥

प्रह्लादस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥
मृगेन्द्रो गृह्यतामेष अपूर्वां तनुमाश्रितः । यदि संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥ १५ ॥
ते दानवगणाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥१६॥
सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः । बभञ्ज तां सभां दिव्यां व्यादितास्य इवान्तकः ॥

सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् ।
चिक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषाद् व्याकुललोचनः ॥ १८ ॥

सर्वास्त्राणामथ ज्येष्ठं दण्डमन्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथाऽघोरं विष्णुचक्रं तथा परम् ॥१९॥
पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यदहनं महत् । विचित्रामशनिं चैव शुष्कार्द्रं चाशनिद्वयम् ॥२०॥
रौद्रं तथोग्रं शूलं च कङ्कालं मुसलं तथा । मोहनं शोषणं चापि संतापनविलापनम् ॥ २१ ॥
वायव्यं मथनं चैव कापालमथ कैकरम् । तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ २२ ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं शिशिरं तथा । कम्पनं शातनं चैव त्वाष्ट्रं चैव सुभैरवम् ॥२३॥
कालमुद्गरमक्षोभ्यं तपनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा मायाधरं परम् ॥ २४ ॥
गान्धर्वमस्त्रं दयितमसिरत्नं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम् ॥
अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याप्रतिहता गतिः ॥ २५ ॥
अस्त्रं हयशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च । नारायणास्त्रमैन्द्रं च सार्पमस्त्रं तथाद्भुतम् ॥२६॥
पैशाचमस्त्रमजितं शोषदं शामनं तथा । महाबलं भावनं च प्रस्थापनविकम्पने ॥ २७ ॥
एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा । असृजन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाऽऽहुतिम् ॥
अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः । विवस्वान् धर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः ॥
स ह्यमर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः । क्षणेन प्लावयामास मैनाकमिव सागरम् ॥

ते दानवाः पाशगृहीतहस्ताः महेन्द्रतुल्याशनिवज्रवेगाः ।
समन्ततोऽभ्युद्यतबाहुकायाः स्थितास्त्रिशीर्षा इव नागपाशाः ॥ ३१ ॥
सुवर्णमालाकुलभूषिताङ्गाः पीतांशुकाभोगविभाविताङ्गाः ।
मुक्तावलीदामसनाथकक्षाः हंसा इवाऽऽभान्ति विशालपक्षाः ॥ ३२ ॥

क्षिरद्भिरग्रैर्ज्वलितैर्महाबलैर्महाशनपूर्गैः सुसमावृतो बभौ ।
गिरिर्यथा सन्ततवर्षिभिर्घनैः कृतान्धकारान्तरकन्दरो द्रुमैः ॥ ३३ ॥
तैर्हन्यमानोऽपि महास्त्रजालैर्महाबलैर्दैत्यगणैः समेतैः ।
नाकम्पताऽसौ भगवान् प्रतापस्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥३४॥
सन्त्रासितास्तेन नृसिंहरूपिणा दितेः सुताः पावकतुल्यतेजसा ।
भयाद्विचेलुः पवनोद्धुताहता यथोर्मयः सागरवारिसम्भवाः ॥ ३५ ॥

अथ त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

हिरण्यकशिपुर्दैत्यो भूयः प्रासृजदूर्जितान् । शक्तिं प्रज्वलितां घोरां धौतशस्त्रतडित्प्रभाम् ॥१॥
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य मृगेन्द्रः शक्तिमुज्ज्वलाम् । हुङ्कारेणैव रौद्रेण बभञ्ज भगवांस्तदा ॥२॥
रराज भग्ना सा शक्तिर्मृगेन्द्रेण महीतले । सविस्फुलिङ्गा ज्वलिता महोल्केव दिवश्च्युता ॥
नाराचपङ्क्तिः सिंहस्य प्राप्ता रेजेऽविदूरतः । नीलोत्पलपलाशानां मालेवोज्ज्वलदर्शना ॥४॥
स गर्जित्वा यथान्यायं विक्रम्य च यथासुखम् । तत्सैन्यमुत्सारितवान् तृणाग्राणीव मारुतः ॥
ततोऽश्मवर्षं दैत्येन्द्रा व्यसृजन्त नभोगताः । नगमात्रैः शिलाखण्डैर्गिरिशृङ्गैर्महाप्रभैः ॥६॥
तदाऽश्मौघैर्दैत्यगणाः पुनः सिंहमरिंदमम् । छादयाञ्चक्रिरे मेघा धाराभिरिव पर्वतम् ॥
न च तं चालयामासुर्दैत्यौघा देवमुत्तमम् । भीमवेगोऽचलश्रेष्ठं समुद्र इव मन्दरम् ॥ ८ ॥
ततोऽश्मवर्षे विहते जलवर्षमनन्तरम् । धाराभिरक्षमात्राभिः प्रादुरासीत्समन्ततः ॥ ९ ॥
नभसः प्रच्युता धारास्तिग्मवेगाः समन्ततः । आवृत्य सर्वतो व्योम दिशश्चोपदिशस्तथा ॥
धारा दिवि च सर्वत्र वसुधायां च सर्वशः । न स्पृशन्ति च ता देवं निपतन्त्योऽनिशं भुवि ॥
बाह्यतो ववृषुर्वर्षं नोपरिष्टाच्च ववृषुः । मृगेन्द्रप्रतिरूपस्य स्थितस्य भुवि मायया ॥ १२ ॥
हतेऽश्मवर्षे तुमुले जलवर्षे च शोषिते । सोऽसृजद्दानवो मायामग्निवायुसमीरिताम् ॥ १३ ॥
महेन्द्रस्तोयदैः सार्धं सहस्राक्षो महाद्युतिः । महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम् ॥ १४ ॥
तस्यां प्रतिहतायां तु मायायां युधि दानवः । असृजद्घोरसङ्काशं तमस्तीव्रं समन्ततः ॥
तमसा संवृते लोके दैत्येष्वात्तायुधेषु च । स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवाबभौ ॥ १६ ॥
त्रिशिखां भ्रुकुटिं चास्य ददृशुर्दानवा रणे । ललाटस्थां त्रिशूलाङ्कां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ १७ ॥
ततः सर्वासु मायासु हतासु दितिनन्दनाः । हिरण्यकशिपुं दैत्यं विवर्णाः शरणं ययुः ॥१८॥
ततः प्रज्वलितः क्रोधात् प्रदहन्निव तेजसा । तस्मिन्क्रुद्धे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूज्जगत् ॥
आवहः प्रवहश्चैव विवहोऽथ ह्युदावहः । परावहः संवहश्च महाबलपराक्रमाः ॥२०॥
तथा परिवहः श्रीमान् उत्पातभयशंसिनः । इत्येवं क्षुभिताः सप्त मरुतो गगनेचराः ॥२१॥
ये ग्रहाः सर्वलोकस्य क्षये प्रादुर्भवन्ति वै । ते सर्वे गगने हृष्टा व्यचरन्त यथासुखम् ॥२२॥
अयोगतश्चाप्यचरन् मार्गं निशि निशाचरः । सग्रहैः सह नक्षत्रैस्ताराराट् निरिन्द्रमः ॥२३॥
विवर्णतां च दिवि गतो भगवान् दिवाकरः । कृष्णः कबन्धश्च तथा लक्ष्यते सुमहद्दिवि ॥२४॥
अमुञ्चन्नार्चिषा वृन्दं भूमिवृक्षांविभावसुः । गगनस्थश्च भगवान् अभीक्ष्णं परिदृश्यते ॥२५॥

सप्त धूम्रनिभा घोराः सूर्या दिवि समुत्थिताः । सोमस्य गगनस्थस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गगाः ॥
वामे तु दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रबृहस्पती । शनैश्चरो लोहिताङ्गो ज्वलनाङ्गसमद्युतिः ॥
समं समधिरोहन्तः सर्वे ते गगनेचराः । शृङ्गाणि शनकैर्घोरा युगान्तावर्तिनो ग्रहाः ॥
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैर्ग्रहैः सह तमोनुदः । चराचरविनाशाय रोहिणीं नाभ्यनन्दत ॥
गृहीतो राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते । उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे विचरन्ति यथासुखम् ॥
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् । अपतन्गगनादुल्का विद्युद्रूपा महास्वनाः ॥
अकाले च द्रुमाः सर्वे पुष्पन्ति च फलन्ति च । लताश्च सफलाः सर्वा ये चाहुर्दैत्यनाशनम् ॥
फलैः फलान्यजायन्त पुष्पैः पुष्पं तथैव च । उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च ॥
विक्रोशन्ति च गम्भीराः धूमयन्ति ज्वलन्ति च । प्रतिमाः सर्वदेवानां वेदयन्ति महद्भयम् ॥
तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरि वेश्मनः । माण्डागारायुधागारे निविष्टमभवन्मधु ॥
असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च । दृश्यन्ते विविधोत्पाताः घोरा घोरनिदर्शनाः ॥
एते चान्ये च बहवो घोरोत्पाताः समुत्थिताः । दैत्येन्द्रस्य विनाशाय दृश्यन्ते कालनिर्मिताः ॥
मेदिन्यां कम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना । महीधरा नागगणा निपेतुरमितौजसः ॥
विषज्वालाकुलैर्वक्त्रैर्विमुञ्चन्तो हुताशनम् । चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः ॥
वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ । एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् ॥
सहस्रशीर्षो नागो वै हेमतालध्वजः प्रभुः । शेषोऽनन्तो महाभागो दुष्प्रकम्प्यः प्रकम्पितः ॥
दीप्तान्यन्तर्जलस्थानि पृथिवीधरणानि च । तदा क्रुद्धेन महता कम्पितानि समन्ततः ॥
नागास्तेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥
संदष्टौष्ठपुटः क्रोधाद् वराह इव पूर्वजः । नदी भागीरथी चैव सरयूः कौशिकी तथा ॥
यमुना त्वथ कावेरी कृष्णवेणा च निम्नगा । सुवेणा च महाभागा नदी गोदावरी तथा ॥
चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । कमलप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥
नर्मदा शुभतोया च तथा वेत्रवती नदी । गोमती गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वसरस्वती ॥
मही कालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवरं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥
सुवर्णप्रकटं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् । महानदं च लौहित्यं शैलकाननशोभितम् ॥
पत्तनं कोशकरणमृषिवीरजनाकरम् । मागधाश्च महाग्रामाः मुण्डा शुङ्गास्तथैव च ॥
सुह्मा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोसलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणाभिकम्पितम् ॥
कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रक्ततोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥
उदयश्च महाशैल उच्छ्रितः शतयोजनम् । सुवर्णवेदिकः श्रीमान् मेघपंक्तिनिषेवितः ॥
भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥
अयोमुखश्च विख्यातः पर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥
सुराष्ट्राश्च सवाह्लीकाः शूराभीरास्तथैव च । भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥
तथैवोण्ड्राश्च पौण्ड्राश्च वामचूडाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन सदेवाश्चाप्सरोगणाः ॥७३॥
अगस्त्यभवनं चैव यदगम्यं कृतं पुरा । सिद्धचारणसंघश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ ७४ ॥

विचित्रनानाविहग सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमये शृङ्गैरम्बरोगानादितम् ॥ ७५ ॥
गिरिं पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः । उत्थितः सागरं भित्वा विश्रामश्चन्द्रसूर्ययोः ॥
रराज सुमहाश्रृङ्गैर्गगनं विल्लिखन्निव ॥ ७६ ॥
चन्द्रसूर्यांशुसंकाशैः सागराम्बुसमावृतैः । विद्युत्वान् पर्वतः श्रीमान् आयतः शतयोजनम् ॥
विद्युता यत्र सघाता निपात्यन्ते नगोत्तमे । ऋषभः पर्वतश्चैव श्रीमानृषभसंज्ञितः ॥ ७८ ॥
कुञ्जरः पर्वतः श्रीमान् यत्रागस्त्यगृहं शुभम् । विशालाक्षश्च दुर्धर्षं सर्पाणामालयः पुरी ॥७९॥
तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणाभिकल्पिता । महासेनो गिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः ॥ ८० ॥
चक्रवांश्च गिरिश्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः । प्राग्ज्योतिषपुरं चापि जातरूपमयं शुभम् ॥ ८१ ॥
यस्मिन् वसति दुष्टात्मा नरको नाम दानवः । मेघश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगम्भीरनिस्वनः ॥८२॥
षष्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां द्विजोत्तमाः । तरुणादित्यसंकाशो मेरुस्तत्र महागिरिः ॥८३॥
यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः । हेमगर्भो महाशैलस्तथा हेमसखो गिरिः ॥ ८४ ॥
कैलासश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पितः । हेमपुष्करसंछन्नं तेन वैखानसं सरः ॥ ८५ ॥
कम्पितं मानसं चैव हंसकारण्डवाकुलम् । त्रिशृङ्गपर्वतश्चैव कुमारी च सरिद्वरा ॥ ८६ ॥
तुषारचयसंछन्नो मन्दरश्चापि पर्वतः । उशीरबिन्दुश्च गिरिश्चन्द्रप्रस्थस्तथाद्रिराट् ॥ ८७ ॥
प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः । देवाभपर्वतश्चैव तथा वै रजतो गिरिः ॥ ८८ ॥
क्रौञ्चः सप्तर्षिशैलश्च धूम्रवर्णश्च पर्वतः । एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा ॥ ८९ ॥
नद्यः ससागराः सर्वाः सोऽकम्पयत दानवः । कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्रवांश्चैव कम्पितः ॥९०॥
खेचराश्च सत्रीपुत्राः पातालतलवासिनः । गणस्तथा परो रौद्रो मेघनामाङ्कुशायुधः ॥ ९१ ॥
ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च सर्व एवाभिकम्पिताः । गदी शूली करालश्च हिरण्यकशिपुस्तदा ॥९२॥
जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिःस्वनः । जीमूतघननिर्घोषो जीमूत इव वेगवान् ॥ ९३ ॥
देवारिर्दितिजो वीरो नृसिंहं समुपाद्रवत् । समुत्पत्य ततस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण महानखैः ॥
तदोंकारसहायेन विदार्य निहतो युधि ॥ ९४ ॥

दैत्यराट् हिरण्यकशिपु सहस्रों वर्ष पर्यन्त अधःशिरा होकर उग्र तपस्या करता है और ब्रह्मा से वह इस बात का वर पाता है कि कोई भी जन्तु उसका संहार न कर सके और किसी भी अस्त्र-शस्त्र से किसी भी समय उसकी क्षति न होने पावे। वर मिल गया और उसके मिलते ही दर्पोन्मत्त दैत्यराट् विश्व के सब देवी-देवों में समा गया और चारों ओर उसीका प्रताप दमकने लगा। ज्वालामुखी की नाईं अब उसके शरीर से अत्याचारों की ज्वाला निकलने लगी जिससे त्रस्त हो देव लोग ब्रह्मा की शरण में पहुँचे और बोले कि भगवन्! इसे आसमान में जो चढ़ाया है, अब इसके पतन का मार्ग भी तो ढूँढ दिये। ब्रह्मा ने कहा कि इसे अपने पापों की नैया भर लेने दो। जब वह भर जायगी तब विष्णु इसका संहार कर देंगे।

दैत्यराट् के अत्याचार अब सीमा से बाहर हो गए—उसने सब देवों का यज्ञांश छीन लिया और उनके सारे ही नाके बंद कर दिये। तब भगवान् विष्णु ओंकार को साथ ले

उसकी सभा में पहुँचे। सभा क्या थी विश्व के वैभव की प्रदर्शनी थी। सारे ही नृत्य-वाद्य अशेष अप्सराओं के सारे ही विलासोल्लास, वासनाओं के उद्दीपन सारे ही उपसाधन वहां एकत्र थे। नृसिंह को देखते ही प्रह्लाद भांप गया कि वह कोई मर्त्य नहीं, स्वयं भगवान् हैं और वह उनका उसी क्षण से भक्त बन गया। किन्तु दैत्यराट् की तो पोरी-पोरी में गर्व खौल रहा था। वह आगे बढ़ा और उसने अपने सारे ही संहारक अस्त्र उन पर ऊल दिये। दानवों के बादल के बादल नृसिंह पर छा गये किंतु सूर्य की प्रखर किरणें इन बादलों को पार कर गईं और वे सब धरती पर आ गिरे। नृसिंह का द्वन्द्व अब दैत्यराट् से हुआ जिसमें अस्त्रों की भरमार से धरती-अंबर एक हो गए और अपने-पराए की संज्ञा जाती रही। पर दैत्यराट् आखिर मानव ही था। भगवान् के पंजों ने उसकी छाती विदीर्ण कर दी और वह यमलोक सिधार गया।

प्रस्तुत उपाख्यान ब्रह्मपुराणान्तर्गत नृसिंहोपाख्यान का परिवर्धित संस्करण प्रतीत होता है। श्लोकों में भारी समानता है। कुछ श्लोक तो जैसे के तैसे दोनों में उपलब्ध होते हैं।

विदग्धता एवं वर्णन की विशदता की दृष्टि से यह उपाख्यान अन्य उपाख्यानों से कहीं आगे बढ़ गया है और इसमें प्रह्लाद को ज्ञानलाभ के लिये न तो नृसिंह से ही लोहा लेना पड़ता और न और ही किसी प्रकार की श्रान्ति सहनी पड़ती है। निश्चय ही मत्स्यपुराण ने 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' इस उक्ति को भुलाकर अनायास ही भक्त को भगवान् के दर्शन करा दिये हैं और यह एक बात ही इस उपाख्यान की नवीनता को स्थापित करने के लिये पर्याप्त है।

दैत्यसभा का वर्णन अनूठा है किन्तु दैत्यसभा में इतने वनस्पतियों का क्या काम? सभा में तो चन्द ही बेल-बूटों से सजावट का काम चल जाता है। फिर अन्य बहुत से प्रसाधनों को जुटाना (जैसे नदी आदि) जहां इस उपाख्यान के रचयिता की देशकालान-भिज्ञता का द्योतक है वहां वह उसकी रसहीनता का भी परिचायक है। युद्ध का वर्णन इस उपाख्यान का जितना ही व्यापक है उतना ही वह रोमांचभेदक भी है—किंतु नृसिंह दैत्यराट् के तुमुल द्वन्द्व पर इससे गहरी धूप नहीं पड़ती और लावोद्गारी वह लोकालोक अनुद्भासित ही रह जाता है। दैत्यराट् के निधन का चित्र भी एकाएक हमारे संमुख आ जाता है। उसके आवश्यक प्रारूप हमारी आंखों से ओझल ही रह जाते हैं। निश्चय ही मत्स्यपुराण का उपाख्यान अपेक्षाकृत आधुनिक है और इससे प्रह्लाद के चरित्र में आवश्यक विकास का क्रम अनुद्भूत ही रह जाता है।

पद्मपुराण के पञ्चम खण्ड के ४२ वें अध्याय में नृसिंहचरित का वर्णन इस प्रकार है:—

भीष्म उवाच—

इदानीं श्रोतुमिच्छामि हिरण्यकशिपोर्वधम्। नरसिंहस्य माहात्म्यं तथा पापविनाशनम् ॥१॥

पुलस्त्य उवाच—

पुरा कृतयुगे राजन् हिरण्यकशिपुः प्रभुः । दैत्यानामादिपुरुषश्चचार सुमहत्तपः ॥ २ ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । जलवासी समभवत् स्नानमौनधृतव्रतः ॥ ३ ॥
ततः शमदमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चैव हि । ब्रह्मा प्रीतोऽभवत्तस्य तपसा नियमेन च ॥ ४ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागत्य तत्र हि । विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥ ५ ॥
आदित्यैर्वसुभिः साध्यैर्मरुद्भिर्दैवतैः सह । रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसपन्नगैः ॥ ६ ॥
दिग्विभागैर्विदिग्भिश्च नदीभिः सागरैस्तथा । नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खचरैश्च महाग्रहैः ॥ ७ ॥
देवैर्ब्रह्मर्षिभिः सार्धं सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा । राजर्षिभिः पुण्यकृद्भिर्गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥८॥
चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वैर्दिवौकसैः । ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्रह्मोवाच—

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसाऽनेन सुव्रत । वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥ १० ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः । न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम ॥ ११ ॥
ऋषयो मानवाः शापैर्न शपेयुः पितामह । यदि मे भगवान्प्रीतो वर एष वृतो मया ॥ १२ ॥
न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन वा । न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्नान्येन मे वधः ॥
भवेयमहमेवार्कः सोमो वायुर्हुताशनः । सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ॥ १४ ॥
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वासवो यमः । धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किंपुरुषाधिपः ॥ १५ ॥

ब्रह्मोवाच—

एव दिव्यो वरस्तात मया दत्तस्तवाद्भुतः । सर्वकामप्रदो वत्स प्राप्स्यसि त्वं न संशयः ॥

पुलस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा स भगवान् जगामाकाशमेव हि । वैराजं ब्रह्मसदनं ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥ १७ ॥
ततो देवाश्च गन्धर्वा ऋषिभिः सह चारणाः । वरप्रदानं श्रुत्वैव पितामहमुपस्थिताः ॥ १८ ॥

देवा ऊचुः—

वरप्रदानाद् भगवन् वधिष्यति स नोऽसुरः । तत्प्रसादस्व भगवन् वधोऽस्य च विचिन्त्यताम् ॥

पुलस्त्य उवाच—

भगवान् सर्वभूतानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः । स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिः परः ॥२०॥
सर्वलोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः । आश्वासयामास तदा सुशीतैर्वचनाम्बुभिः ॥२१॥

ब्रह्मोवाच—

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् । तपसोऽन्तेऽस्य भगवान्स्वयं विष्णुः करिष्यति ॥

पुलस्त्य उवाच—

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं पङ्कजजाननात् । स्वानि स्थानानि दिव्यानि विप्रजग्मुर्मुदान्विताः ॥
लब्धमात्रे वरे सोऽथ सर्वा अबाधत प्रजाः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन गर्वितः ॥ २४ ॥
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन्वै संशितव्रतान् । सत्यधर्मपरान्दान्तान् धर्षयामास दानवः ॥२५॥
देवांस्त्रिभुवनस्थांश्च पराजित्य महासुरः । त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ॥ २६ ॥
तदा वरमदोत्सिक्तश्चोदितः कालधर्मिणा । यज्ञियानकरोद्दैत्यान् अयज्ञीयांश्च दैवतान् ॥२७॥
यथादित्याश्च साध्याश्च विश्वे च वसवस्तथा । रुद्रा देवगणा यक्षा देवद्विजमहर्षयः ॥ २८ ॥
शरण्यं शरणं विष्णुमुपतस्थुर्महाबलम् । देवदेवं यज्ञमयं वासुदेवं सनातनम् ॥ २९ ॥

देवा ऊचुः—

नारायण महाभाग देवास्त्वां शरणं गताः । त्रायस्व जहि दैत्येन्द्रं हिरण्यकशिपुं प्रभो ॥३०॥
त्वं हि नः परमो धाता त्वं हि नः परमो गुरुः । त्वं हि नः परमो देवो ब्रह्मादीनां सुरोत्तमः ॥

विष्णुरुवाच—

भयं त्यजध्वममराः अभयं वो ददाम्यहम् । तथैव त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥३२॥
एवं हि सगणं दैत्यं वरदानेन गर्वितम् । अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥३३॥

पुलस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् विश्वपो विष्णुरव्ययः । हिरण्यकशिपुस्थानं जगाम हरिरीश्वरः ॥३४॥
तेजसा भास्कराकारः शशी कान्त्येव चापरः । नरस्य कृत्वाऽर्धतनुं सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥३५॥
नारसिंहेन वपुषा पाणी संगृह्य पाणिना । ततोऽपश्यत विस्तीर्णां दिव्यां रम्यां मनोरमाम् ॥
सर्वकामयुतां शुभ्रां हिरण्यकशिपोः सभाम् । विस्तीर्णां योजनशतं शतमध्यर्धमायतम् ॥३७॥
वैहायसीं कामगमां पञ्चयोजनमुच्छ्रिताम् । जराशोकक्षमापेतां निष्प्रकम्पां शिवां सुखाम् ॥
वेश्मासनवतीं रम्यां ज्वलन्तीमिव तेजसा । अन्तःसलिलसंयुक्तां विहितां विश्वकर्मणा ॥३९॥
दिव्यवर्णमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युताम् । नीलपीतासितश्यामैः श्वेतैर्लोहितकैरपि ॥ ४० ॥
अवदातैस्तथा गुल्मै रक्तमञ्जरिधारिभिः । सिताभ्रघनसंकाशां प्लवन्ती चाभ्यदृश्यत ॥ ४१ ॥
रश्मिमती स्वभावेन दिव्यगन्धमनोरमा । न सुखा न च दुःखा सा न शीता न च धर्मदा ॥
न क्षुत्पिपासे ग्लानिं वा प्राप्य तां प्राप्नुवन्ति ते ।
नानारूपैरुपकृतां सुचित्रैश्च शुभ(सुभा ?)स्वरैः ॥ ४३ ॥
अतिसूर्यं च चन्द्रं च शिखिनं च स्वयंप्रभा । दीप्यते नाकपृष्ठस्था भासयन्ती च भासुरा ॥
सर्वे चकासिरे तस्यां मुदितास्चैव मानुषाः । रसवन्तः प्रभूताश्च भक्ष्यभोज्यान्नमुत्तमम् ॥
पुण्यगन्धाः स्रजश्चापि नित्यकालफलद्रुमाः । उष्णे शीतानि तोयानि शीते चोष्णानि सन्ति वै ॥
पुष्पिताग्रान्महाशाखान् प्रवालाङ्कुरधारिणः । लतावितानसंछन्नान् कल्पयामास स प्रभुः ॥
गन्धवन्ति च पुष्पाणि रसवन्ति फलानि च । तानि शीतानि चोष्णानि तत्र तत्र सरांसि च ॥
अपश्यद् भूपतीर्थानि सभायां तस्य स प्रभुः । नलिनैः पुण्डरीकैश्च शतपत्रैः सुगन्धिभिः ॥

रक्तैः कुवलयैश्चैव कह्लारैरुत्पलैस्तथा । नानावर्णसमोपेतैः पुष्पैरन्यैश्च सुप्रियैः ॥ ५० ॥
कारण्डवैश्चक्रवाकैः सारसैः कुररैरपि । विमलस्फटिकाभानि पाण्डुरच्छदनैर्द्विजैः ॥ ५१ ॥
बहुहंसोपगीतानि सारसाभिरुतानि च । गन्धवत्यो लतास्तत्र पुष्पमञ्जरिधारिणीः ॥ ५२ ॥
दृष्टवान्भगवांस्तत्र खदिराश्वत्थमार्जुनान् । चूता निम्बा नागवृक्षाः कदम्बा बकुला धवाः ॥
चकोरा शतपत्राश्च मत्तकोकिलसारिकाः । पुष्पितान्पुष्पिताग्रांश्च सपश्यन्ति महाद्रुमान् ॥
रक्तपीतारुणास्तत्र पादपाग्रगताः खगाः । परस्परमवेक्षन्ते प्रहृष्टा जीवजीवकाः ॥ ५५ ॥
तस्यां सभायां दैत्येन्द्रो हिरण्यकशिपुस्तदा । आसीन आसने चित्रे दशनल्वप्रमाणतः ॥ ५६ ॥
दिवाकरनिभे दिव्ये दिव्यास्तरणसंस्तृते । हिरण्यकशिपुर्दैत्य आस्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ ५७ ॥
उपाचेरुर्महादैत्या हिरण्यकशिपुं तदा । दिव्यतालानि गीतानि जगुर्गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५८ ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचेति च विश्रुता । दिव्याऽथ सौरभेयी च समीची पुञ्जिकस्थला ॥
मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता । चारुनेत्रा घृताची च मेनका चोर्वशी तथा ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः । उपातिष्ठन्त राजानं हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥ ६१ ॥
उपासते दितेः पुत्राः सर्वे लब्धवरास्तथा । बलिर्वैरोचनिस्तत्र नरकः पृथिवीसुतः ॥ ६२ ॥
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च गविष्ठश्च महासुरः । सुरहन्ता दुःखकर्ता सुमनाः सुमतिस्तथा ॥ ६३ ॥
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा । विश्वरूपः सुरूपश्च विश्वकायो महाबलः ॥ ६४ ॥
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा महासुरः । घटास्यो विटरूपश्च ज्वलनश्चेन्द्रतापनः ॥ ६५ ॥
दैत्यदानवसंघास्ते सर्वे ज्वलितकुण्डलाः । स्रग्विणो वाग्मिनः सर्वे सर्वे च चरितव्रताः ॥ ६६ ॥
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः । एते चान्ये च बहवो हिरण्यकशिपुं प्रभुम् ॥ ६७ ॥
उपासन्ते महात्मानः सर्वे दिव्यपरिच्छदाः । विमानैर्विविधाकारैर्भ्राजमानैरिवाग्निभिः ॥ ६८ ॥
महेन्द्रवपुषः सर्वे विचित्राङ्गदबाहवः । भूषिताङ्गा दितेः पुत्रास्तमुपासन्त सर्वशः ॥ ६९ ॥
[तस्यां सभायां दिव्यायामसुराः सर्वतोत्तमाः । हिरण्यकशिपोः सर्वे दिवाकरसमप्रभाः ॥
न श्रुतं नैव नो दृष्टं हिरण्यकशिपोर्यथा ॥ ७० ॥]
ऐश्वर्यं दैत्यसिंहस्य यथा तस्य महात्मनः । न श्रुतं नैव दृष्टं च कस्यापि भुवनत्रये ॥ ७१ ॥

कनकरजतचित्रवेदिकायां परिहृतरत्नविचित्रवीथिकायाम् ।
स ददर्श मृगाधिपः सभायां सुरचितरत्नगवाक्षशोभितायाम् ॥ ७२ ॥
कनकविमलहारभूषिताङ्गं दितितनयं स मृगाधिपो ददर्श ।
दिवसकरमहाप्रभं ज्वलन्तं दितिसहस्रशतैर्निषेव्यमाणम् ॥ ७२ ॥

ततो दृष्ट्वा महाबाहुं कालचक्रमिवागतम् । नारसिंहवपुश्छन्नं भस्मच्छन्नमिवानलम् ॥
हिरण्यकशिपोः पुत्रः प्रह्लादो नाम वीर्यवान् । दिव्येन वपुषा सिंहमपश्यद्देवमागतम् ॥
तं दृष्ट्वा रुक्मशैलाभमपूर्वां तनुमास्थितम् । विस्मिता दानवाः सर्वे हिरण्यकशिपुश्च सः ॥

प्रह्लाद उवाच—

महाराज महाबाहो दैत्यानामादिसम्भव । न श्रुतं नैव मे दृष्टं नारसिंहमिदं वपुः ॥ ७३ ॥
अव्यक्तं परमं दिव्यं किमिदं रूपमागतम् । दैत्यान्तकरणं घोरं शंसतीव मनो मम ॥ ७४ ॥

अस्य देवाः शरीरस्थाः सागराः सरितस्तथा । हिमवान्पारियात्रश्च ये चान्ये कुलपर्वताः ॥
चन्द्रमाश्च सनक्षत्रैरा(त्र आ)दित्या रश्मिभिः सह । धनदो वरुणश्चैव यमः शक्रशचीपतिः ॥
मरुतो देवगन्धर्वा ऋषयश्च तपोधनाः । नागा यक्षा पिशाचाश्च राक्षसा भीमविक्रमाः ॥
ब्रह्मा देवाः पशुपतिर्ललाटस्था भ्रमन्ति हि । स्थावराणि च सर्वाणि जङ्गमानि तथैव च ॥८२॥
भवांश्च सहितोऽस्माभिः सर्वैर्दैत्यगणैर्वृतः । विमानशतसङ्कीर्णा सर्वा या भवतः सभा ॥८३॥
सर्वं त्रिभुवनं राजँल्लोकधर्मश्च शाश्वतः । दृश्यते नरसिंहेऽस्मिंस्तथेदं निखिलं जगत् ॥८४॥

प्रजापतिश्चात्र मनुर्महात्मा ग्रहाश्च योगाश्च मही नभश्च ।
उत्पातकालश्च धृतिर्मतिश्च रतिश्च सत्यं च तपो दमश्च ॥ ८५ ॥
सनत्कुमारश्च महानुभावो विश्वे च देवाः ऋषयश्च सर्वे ।
क्रोधश्च कामश्च तथैव हर्षो दर्पश्च मोहः पितरश्च सर्वे ॥ ८६ ॥

पुलस्त्य उवाच—

प्रह्लादस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रभुः । उवाच दानवान्सर्वान् गणांश्च स गणाधिपः ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

मृगेन्द्रो गृह्यतामेष अपूर्वां तनुमास्थितः । यदि वा संशयः कश्चिद् वध्यतां वनगोचरः ॥

पुलस्त्य उवाच—

ते दानवगणाः सर्वे मृगेन्द्रं भीमविक्रमम् । परिक्षिपन्तो मुदितास्त्रासयामासुरोजसा ॥ ८९ ॥
सिंहनादं विमुच्याथ नरसिंहो महाबलः । बभञ्ज तां सभां सर्वां व्यादितास्य इवान्तकः ॥९०॥
सभायां भज्यमानायां हिरण्यकशिपुः स्वयम् । चिक्षेपास्त्राणि सिंहस्य रोषव्याकुललोचनः ॥
सर्वास्त्राणामथ श्रेष्ठं दण्डमस्त्रं सुदारुणम् । कालचक्रं तथा घोरं विष्णुचक्रं तथापरम् ॥ ९२ ॥
पैतामहं तथात्युग्रं त्रैलोक्यनिर्मितं महत् । विचित्रामशनिं चैव शुष्कार्द्रे चाशनिद्वयम् ॥९३॥
रौद्रं तथोग्रशूलं च कुंकारं मुशलं तथा । अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव च ॥ ९४ ॥
नारायणास्त्रमैन्द्रं च आग्नेयं शैशिरं तथा । वायव्यं मन्थनं चैव कपालमथ किंकरम् ॥९५॥

तथाऽप्रतिहतां शक्तिं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ।
[अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव सोमास्त्रं शैशिरं तथा ॥ ९६ ॥]

मोहनं शोषणं चैव सन्तापनविलापनम् । कम्पनं शातनं चैव महास्त्रं चैव रोधनम् ॥९७॥
कालमुद्गरमक्षोभ्यं तापनं च महाबलम् । संवर्तनं मोहनं च तथा मायाधरं वरम् ॥ ९८ ॥
गान्धर्वमस्त्रं दयितम् असिरत्नं च नन्दकम् । प्रस्वापनं प्रमथनं वारुणं चास्त्रमुत्तमम् ॥९९॥
अस्त्रं पाशुपतं चैव यस्याऽप्रतिहता गतिः । एतान्यस्त्राणि दिव्यानि हिरण्यकशिपुस्तदा ॥
असृजन्नरसिंहस्य दीप्तस्याग्नेरिवाहुतिम् । अस्त्रैः प्रज्वलितैः सिंहमावृणोदसुरोत्तमः ॥
विवस्वान्घर्मसमये हिमवन्तमिवांशुभिः । स ह्यमर्षानिलोद्भूतो दैत्यानां सैन्यसागरः ॥१०४॥
क्षणेनाप्लावयत्सर्वं मैनाकमिव सागरः । प्रासैः पाशैश्च खड्गैश्च गदाभिर्मुसलैस्तथा ॥१०३॥

वज्रैरशनिभिश्चैव बहुशाखैर्महाद्रुमैः । मुद्गरैः कूटपाशैश्च शिलोलूखलपर्वतैः ॥
शतघ्नीभिश्च दीप्ताभिर्दण्डैरपि सुदारुणैः ॥ १०४ ॥

सोऽसृजद्दानवो मायामग्निं वायुसमीरितम् । तमिन्द्रस्तोयदैः सार्धं सहस्राक्षो महाद्युतिः ॥
महता तोयवर्षेण शमयामास पावकम् । तस्यां प्रतिहतायां तु मायायां युधि दानवः ॥१०६॥
असृजद् घोरसंकाशं तमस्तीव्रं समन्ततः । तमसा संवृते लोके दैत्येष्वात्तायुधेषु च ॥१०७॥
स्वतेजसा परिवृतो दिवाकर इवोद्गतः । त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुर्दानवा रणे ॥१०८॥
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गंगां त्रिपथगामिव । ततः सर्वासु मायासु हतासु दितिनन्दनाः ॥१०९॥
हिरण्यकशिपुं दैत्या विषण्णाः शरणं ययुः । ततः प्रज्वलितः क्रोधात्प्रदहन्निव तेजसा ॥११०॥
तस्मिन्क्रुद्धे तु दैत्येन्द्रे तमोभूतमभूज्जगत् । आवहः प्रवहश्चैव विवहोऽथ समीरणः ॥१११॥
परावहः संवहश्च उद्वहश्च महाबलः । तथा परिवहः श्रीमानुत्पातभयशंसिनः ॥ ११२ ॥
इत्येते क्षुभिताः सप्त मरुतो गगनेचराः । ये ग्रहाः सर्वलोकस्य क्षये प्रादुर्भवन्ति हि ॥ ११३ ॥
ते सर्वे गगने हृष्टा व्यचरंश्च यथासुखम् । अयोगतश्चाप्यचरद् योगं निशि निशाचरः ॥
सग्रहः सह नक्षत्रैस्तारापतिररिन्दम । विवर्णतां च भगवान् गतो दिवि दिवाकरः ॥११५॥
कृष्णः कबन्धश्च तदा लक्ष्यते सुमहान्दिवि । असृजच्चासिता सूर्यो धूमवर्ति विभावसुः ॥११६॥
गगनस्थश्च भगवानभीक्ष्णं परिविष्यते । सप्तधूमनिभा घोराः सूर्या दिवि समुत्थिताः ॥११७॥
सोमस्य गगनस्थस्य ग्रहास्तिष्ठन्ति शृङ्गगाः । वामे च दक्षिणे चैव स्थितौ शुक्रबृहस्पती ॥
शनैश्चरो लोहिताङ्गो लोहिताङ्गसमद्युतिः । समं समधिरोहन्त सर्वे वै गगनेचराः ॥ ११९ ॥
शृङ्गाणि शनकैर्घोरा युगान्तावर्तनग्रहाः । चन्द्रमाश्च सनक्षत्रो ग्रहैः सह तमोनुदः ॥१२२॥
चराचरविनाशाय रोहिणीं नाभ्यनन्दत । गृह्यते राहुणा चन्द्र उल्काभिरभिहन्यते ॥१२३॥
उल्काः प्रज्वलिताश्चन्द्रे व्यचरन्त यथासुखम् । देवानामधिपो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ॥
अपतन् गगनादुल्का विद्युद्रूपा महास्वनाः । अकाले च द्रुमाः सर्वे पुष्पन्ति च फलन्ति च ॥
लताश्च सफलाः सर्वा या आहुर्दैत्यनाशिकाः । फले फलान्यजायन्त पुष्पे पुष्पं तथैव च ॥
उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति प्ररुदन्ति च । विक्रोशन्ति च गंभीरं धूमायन्ते ज्वलन्ति च ॥
प्रतिमाः सर्वदेवानां कथयन्त्यो महद्भयम् । आरण्यैः सह संसृष्टा ग्राम्याश्च मृगपक्षिणः ॥
चक्रुर्भैरव [illegible] । नद्यश्च प्रतिकूलानि वहन्ति कलुषोदकाः ॥ १३९ ॥
न प्रकाशन्ति च दिशो रक्तरेणुसमाकुलाः । वानस्पत्या न पूज्यन्ते पूजनार्हाः कथंचन ॥
वायुवेगेन हन्यन्ते भज्यन्ते प्रणमन्ति च । तदा च सर्वभूतानां छाया न परिवर्तते ॥१४१॥
अपरेण गते सूर्ये सलोकानां युगक्षये । तदा हिरण्यकशिपोर्दैत्यस्योपरि वेश्मनः ॥ १४२ ॥
भाण्डागारे शुभागारे निविष्टमभवन्मधु । असुराणां विनाशाय सुराणां विजयाय च ॥ १४३ ॥
दृश्यन्ते विविधोत्पाता घोरा घोरनिदर्शनाः । एते चान्ये च बहवो घोरोत्पाताः समुत्थिताः ॥
दैत्येन्द्रस्य विनाशाय दृश्यन्ते रणशंसिनः । मेदिन्यां कम्पमानायां दैत्येन्द्रेण महात्मना ॥
महीधरा नागगणा निपेतुरमितौजसः । विषज्वालाकुलैर्वक्त्रैर्विमुञ्चन्तो हुताशनम् ॥१४६॥

चतुःशीर्षाः पञ्चशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च पन्नगाः । वासुकिस्तक्षकश्चैव कर्कोटकधनञ्जयौ ॥ १४७ ॥
एलामुखः कालियश्च महापद्मश्च वीर्यवान् । सहस्रशीर्षः शुद्धाङ्गो हेमतालध्वजः प्रभुः ॥१४८॥
शेषोऽनन्तो महानागो ह्यप्रकम्प्यश्च कम्पितः । दीप्यन्तेऽन्तर्जलस्थानि पृथिवीविवराणि वै ॥
सप्त दैत्येन्द्रकोपेन कम्पितानि समन्ततः । नानातेजोधराश्चापि पातालतलचारिणः ॥१५०॥
पाताले सहसा क्षुब्धे दुष्प्रकम्प्याः प्रकम्पिताः । हिरण्यकशिपुर्दैत्यस्तदा संस्पृष्टवान्महीम् ॥
सन्दष्टौष्ठपुटः क्रुद्धो वराह इव पूर्वजः । गङ्गा भागीरथी चैव कौशिकी सरयूरपि ॥ १५२ ॥
यमुना नाथ कावेरी कृष्णा वेणा च निम्नगा । तुङ्गभद्रा महावेगा नदी गोदावरी तथा ॥
चर्मण्वती च सिन्धुश्च तथा नदनदीपतिः । मेलकप्रभवश्चैव शोणो मणिनिभोदकः ॥१५४॥
नर्मदा च शुभस्रोतास्तथा वेत्रवती नदी । गोमती गोकुलाकीर्णा तथा पूर्वा सरस्वती ॥१५५॥
महाकालमही चैव तमसा पुष्पवाहिनी । जम्बूद्वीपं रत्नवन्तं सर्वरत्नोपशोभितम् ॥
सुवर्णपुटकं चैव सुवर्णाकरमण्डितम् । महानदश्च लौहित्यः शैलः काञ्चनशोभितः ॥१५७॥
पत्तनं कोपकाराणां कुशिं च रजताकरम् (?) । मगधाश्च महाग्रामाः पुण्ड्रा उग्रास्तथैव तु ॥
सुह्मा मल्ला विदेहाश्च मालवाः काशिकोशलाः । भवनं वैनतेयस्य दैत्येन्द्रेणापि कम्पितम् ॥
कैलासशिखराकारं यत्कृतं विश्वकर्मणा । रक्ततोयो महाभीमो लौहित्यो नाम सागरः ॥
उदयश्च महाशैलः उच्छ्रितः शतयोजनः । सुवर्णवेदिकः श्रीमान् मेघपङ्क्तिनिषेवितः ॥
भ्राजमानोऽर्कसदृशैर्जातरूपमयैर्द्रुमैः । शालैस्तालैस्तमालैश्च कर्णिकारैश्च पुष्पितैः ॥१५२॥
अयोमुखश्च विख्यातः सर्वतो धातुमण्डितः । तमालवनगन्धश्च पर्वतो मलयः शुभः ॥
सुराष्ट्रश्च सबाह्लीकाः शूद्राभीरास्तथैव च । भोजाः पाण्ड्याश्च वङ्गाश्च कलिङ्गास्ताम्रलिप्तकाः ॥
तथैव पौण्ड्राः शुभ्राश्च वामचूडाः सकेरलाः । क्षोभितास्तेन दैत्येन देवाश्चाप्सरसां गणाः ॥
अगस्त्यभवनं चैव यदगस्त्यकृतं पुरा । सिद्धचारणसंघैश्च विप्रकीर्णं मनोहरम् ॥ १५६ ॥
विचित्रनानाविहगं सुपुष्पितमहाद्रुमम् । जातरूपमयैः शृङ्गैरप्सरोगणसेवितम् ॥ १५७ ॥
गिरिः पुष्पितकश्चैव लक्ष्मीवान् प्रियदर्शनः । उत्थितः सागरं भित्त्वा विश्रामश्चन्द्रसूर्ययोः ॥
रराज स महाशृङ्गैर्गगनं विलिखन्निव । चन्द्रसूर्यांशुसङ्काशैः सागराम्बुसमावृतैः ॥ १५९ ॥
विद्युद्वान्सो यतः श्रीमान् आयतः शतयोजनः । विद्युतां यत्र संपाता निपात्यन्ते नगोत्तमे ॥
ऋषभः पर्वतश्चैव श्रीमानृषभसंस्थितः । कुञ्जरः पर्वतः श्रीमानगस्त्यस्य गृहं शुभम् ॥१६१॥
विमलाख्या च दुर्धर्षा सर्पाणां मालती पुरी । तथा भोगवती चापि दैत्येन्द्रेणाभिकम्पिता ॥
महासेनगिरिश्चैव पारियात्रश्च पर्वतः । चक्रवांश्च गिरिश्रेष्ठो वाराहश्चैव पर्वतः ॥ १६३ ॥
प्राग्ज्योतिषपुरं चापि जातरूपमयं शुभम् । यस्मिन्नुवास दुष्टात्मा, नरको नाम दानवः ॥
मेघश्च पर्वतश्रेष्ठो मेघगम्भीरनिस्वनः । षष्टिस्तत्र सहस्राणि पर्वतानां विशांपते ॥ १६५ ॥
तरुणादित्यसङ्काशो मेरुश्चैव महागिरिः । यक्षराक्षसगन्धर्वैर्नित्यं सेवितकन्दरः ॥ १६६ ॥
हेमगर्भो महासेनस्तथा मेघसखो गिरिः । कैलासश्चैव शैलेन्द्रो दानवेन्द्रेण कम्पितः ॥१६७॥
हेमपुष्पसच्छन्नं तेन वैखानसं सरः । कम्पितं मानसं चैव हंसकारण्डवाकुलम् ॥ १६८ ॥

त्रिशृङ्गः पर्वतश्रेष्ठः कुमारी च सरिद्वरा। तुषारचयसंघश्च मन्दरश्चापि पर्वतः ॥ १६९ ॥
उशीरबीजश्च गिरिर्भद्रप्रस्थस्तथाद्रिराट्। प्रजापतिगिरिश्चैव तथा पुष्करपर्वतः ॥ १७० ॥
देवाभः पर्वतश्चैव तथा वै वालुकागिरिः। क्रौञ्चः सप्तर्षिशैलश्च धूम्रवर्णश्च पर्वतः ॥ १७१ ॥
एते चान्ये च गिरयो देशा जनपदास्तथा। नद्यः ससागराः सर्वाः सोऽकम्पयत दानवः ॥
कपिलश्च महीपुत्रो व्याघ्रवांश्च प्रकम्पितः। खेचराश्च निशापुत्राः पातालतलवासिनः ॥
गणस्तथापरो रौद्रो मेघनामाङ्कुशायुधः। ऊर्ध्वगो भीमवेगश्च सर्व एतेऽभिकम्पिताः ॥
गदी शूली करालश्च हिरण्यकशिपुस्तथा। जीमूतघननिर्घोषो जीमूत इव वेगवान् ॥१७५॥
देवारिर्दितिजो दृप्तो नृसिंहं समुपाद्रवत्। स तु तेन नखस्तीक्ष्णैर्मृगेन्द्रेण महानखैः ॥
तदोंकारसहायेन विदार्य निहतो युधि ॥ १७६ ॥
मही च कालश्च शशी नभश्च ग्रहाः ससूर्याश्च दिशश्च सर्वाः।
नद्यश्च शैलाश्च महार्णवाश्च गताः प्रसादं दितिपुत्रनाशनात् ॥ १७७ ॥
ततः प्रमुदिता देवा ऋषयश्च तपोधनाः। तुष्टुवुर्नामभिर्दिव्यैरादिदेवं सनातनम् ॥ १७८ ॥

देवा ऊचुः—

यत्त्वया विहितं देव नारसिंहमिदं वपुः। एतदेवार्चयिष्यन्ति परावरविदो जनाः ॥ १७९ ॥

ब्रह्मोवाच—

भवान्ब्रह्मा च रुद्रश्च महेन्द्रो देवसत्तम। भवान्कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभवोऽव्ययः ॥
परां च सिद्धिं च परं च सत्त्वं परं रहस्यं परमं हविश्च।
परं च धर्मं परमं यशश्च त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १८० ॥
परं च सत्यं परमं तपश्च परं पवित्रं परमं च मार्गम्।
परं च यज्ञं परमं च होत्रं त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १८२ ॥
परं शरीरं परमं च ब्रह्म परं च योगं परमां च वाणीम्।
परं रहस्यं परमां गतिं च त्वामाहुरग्र्यं परमं पुराणम् ॥ १८३ ॥

पुलस्त्य उवाच—

एवमुक्त्वा तु भगवान् सर्वलोकपितामहः। स्तुत्वा नारायणं देवं ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः ॥
ततो नदत्सु तूर्येषु नृत्यन्तीष्वप्सरःसु च। क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जगाम हरिरीश्वरः ॥१८७॥
नारसिंहं वपुर्देवः स्थापयित्वा सुदीप्तिमान्। पौराणं रूपमास्थाय प्रययौ गरुडध्वजः ॥१८६॥
अष्टचक्रेण यानेन भूतियुक्तेन भास्वता। अव्यक्तप्रकृतिर्देवः स्वस्थानं गतवान् प्रभुः ॥१८७॥

पद्मपुराणे पञ्चमखण्डे त्रिचत्वारिंशत्तमेऽध्याये—

भीष्म उवाच—

कथितं च त्वयैतद्धि नरसिंह(स्व)रूपिणः। माहात्म्यं त्वन्मुखाद् ब्रह्मन् श्रुतं परममद्भुतम् ॥
यथा हिरण्यकशिपुं जघान असुरेश्वरः। यदुक्तवानसि देवानां हृदयानि विकम्पतः ॥ २ ॥

यद्भयाद् वाति वातोऽपि मन्दं मन्दरयो रविः। नाति प्रतापं कुरुते प्रजासंयमनो यमः ॥३॥
यत्प्रजाभ्यो बिभ्यतीव तथेन्द्रो वरुणोऽपि च। तदाज्ञायां स्थिता(सेन्द्रा)देवाश्चात्यन्तपीडिताः॥
भवन्ति लोकत्रितयं यद्वशे निखिलं स्थितम्। एवं विधोऽपि यो दैत्यो हिरण्यकशिपुर्महान् ॥
विदारितो नखाग्रैश्च नारसिंहेन विष्णुना।
नारसिंहस्य माहात्म्यं विस्तरेण त्वयेरितम्। समासाद् भव माहात्म्यं भैरवस्याभिधीयताम् ॥

क्या कथा, क्या भाव, क्या भाषा, यहां तक कि श्लोकों की आनुपूर्वी में भी पद्मपुराण का यह उपाख्यान मत्स्यपुराण के उपाख्यान से मिलता-जुलता है। ध्यान से पढ़ जाइये आप भांप जायगे कि पद्मपुराण का रचयिता आँख बन्द करके मत्स्यपुराण के पन्ने उठा कर अपनी पिटारी में सजा रहा है अथवा यों कहिये कि इन दोनों के रचयिता अपने से पूर्व विद्यमान किसी एक ही प्रपुराण (Ur-Purana) से अपनी अपनी सामग्री उठा रहे हैं, किंतु इस सामग्री को वहां से लेते समय इतना भी भूल गए कि इसे अपनी बनाने के लिये इस पर अपने व्यक्तित्व का जामा तो सजा दें। यह दशा है जिसमें कि वर्तमान पुराण हमारे संमुख आये हुए हैं। इनके संपादन में अत्यन्त विवेक एवं परिश्रम की आवश्यकता है।

पद्मपुराण के षष्ठ खण्ड के ६५ वें अध्याय में नृसिंह चरित का वर्णन फिर आता है—जो कि प्रस्तुत चम्पू के कथानक से सर्वांशतः मिलता-जुलता है—इसी के आधार पर सूर्य दैवज्ञ पण्डित ने अपने चम्पू की रचना की है। कथा यों है:—

पद्मपुराण षष्ठ खण्ड अध्याय २६५

रुद्र उवाच—

भ्रातरं निहतं ज्ञात्वा हिरण्यकशिपुस्ततः। तपस्तेपे महादैत्यो मेरोः पार्श्वे च मां प्रति ॥१॥
दिव्यवर्षसहस्राणि वायुभक्षो महाबलः। जपन्पञ्चाक्षरं मन्त्रं पूजयामास मां शुभे ॥ २ ॥
ततः प्रहृष्टमनसा तमवोचं महासुरम्। वरं वृणीष्व दैतेय यत्ते मनसि वर्त्तते ॥
ततः प्रोवाच दैतेयो मां प्रसन्नं शुभानने ॥ ३ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। पशुपक्षिमृगाणां च सिद्धानां वै महात्मनाम् ॥४॥
यक्षविद्याधराणां च किंनराणां तथैव च। सर्वेषामेव रोगाणाम् आयुधानां तथैव च ॥
सर्वेषाम् ऋषिमुख्यानामवध्यत्वं प्रयच्छ मे ॥ ५ ॥

रुद्र उवाच—

एवमस्त्विति तद्रक्षस्त्वब्रवं प्रियदर्शने। मत्तो महावरं प्राप्य स दैतेयो महाबलः ॥ ६ ॥
जित्वा महेन्द्रं देवांश्च स त्रैलोक्येश्वरोऽभवत्। सर्वांश्च यज्ञभागांश्च स्वयमेवाग्रहीद् बलात् ॥
त्रातारं नाधिगच्छन्ति देवतास्तेन निर्जिताः। तस्यैव किंकराः सर्वे गन्धर्वा देवदानवाः ॥८॥

यक्षाश्च नागाः सिद्धाश्च तस्यैव वशवर्तिनः । उत्तानपादस्य सुतां कल्याणीं नाम कन्यकाम् ॥
उपयेमे विधानेन दैत्यराजो महाबलः । तस्यां जातो महातेजा प्रह्लादो दैत्यराट् शुभे ॥१०॥
अनुरक्तो हृषीकेशे गर्भवासेऽपि यो हरौ । सर्वावस्थासु कृत्येषु मनोवाक्कायकर्मभिः ॥११॥

नान्यं जानाति देवेशात्पद्मनाभात् सनातनात् ।
स बाल्ये चोपनीतः सन् गुरुगेहेऽवसत् सुधीः ॥ १२ ॥

अधीत्य सर्ववेदांश्च शास्त्राणि विविधानि च । कस्मिंश्चित्त्वथ काले च गुरुणा सह दैत्यज ॥
पितुः समीपमागत्य ववन्दे विनयान्वितः । तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तनयं शुभलक्षणम् ॥

अङ्के निधाय दैत्येन्द्रः प्रोवाचेदं शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

प्रह्लाद चिरकालं त्वं गुरुगेहे निवेशितः । यदुक्तं गुरुणा वेद तत्समाचक्ष्व सुव्रत ॥ १५ ॥

रुद्र उवाच—

इति पृष्टो स्वपित्रा वै प्रह्लादो जन्मवैष्णवः । प्राह दैत्येश्वरं प्रीत्या वचनं कलुषापहम् ॥१६॥

प्रह्लाद उवाच—

यो वै सर्वोपनिषदामर्थं पुरुष ईश्वरः । तं वै सर्वगतं विष्णुं नमस्कृत्वा ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥

रुद्र उवाच—

इति विष्णुस्तवं श्रुत्वा दैत्यराड् विस्मयान्वितः । उवाच तं गुरुं रोषात् किं त्वयोक्तं ममात्मजे ॥
ममात्मजस्य दुर्बुद्धे हरिसंस्तवमीदृशम् । किमर्थमुक्तवान्मूढमकार्यं मामनोचितम् ॥ १९ ॥
अशास्यं मदमित्रस्य स्तवमेव समाश्रितः । बालेनापि कृतं यत्त्वत्प्रमादाद् द्विजाधम ॥२०॥

इत्युक्त्वा परितो वीक्ष्य दैत्यराट् कोपमूर्छितः ।
प्राह दैत्यानसौ विप्रो बध्यतामिति राक्षसः ॥ २१ ॥
इत्युक्ता राक्षसाः क्रुद्धाः कण्ठवेष्टन (बन्धन) रज्जुभिः ।
बबन्धुस्तं द्विजवरं भृशं दैत्येश्वराज्ञया ॥ २२ ॥

बध्यमानं गुरुं दृष्ट्वा प्रह्लादो ब्राह्मणप्रियः । उवाच पितरं तात वद मे नोऽस्त्ययं गुरुः ॥२३॥
कृपया देवदेवस्य शिक्षितोऽस्मि हरेः प्रभोः । नान्यो गुरुर्मे वदति स एव प्रेरको हरिः ॥
श्रोता मन्ता तथा वक्ता द्रष्टा सर्वग ईश्वरः । हरिरेवाक्षरः कर्ता नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥

तस्मादनागसो विप्रो नान्यो मे गुरुः प्रभो ॥ २५ ॥

रुद्र उवाच—

इति पुत्रवचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुस्ततः । तं ब्राह्मणं मोचयित्वा स्वसुतं प्राह विस्मयात् ॥२६॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

किं वत्स त्वं भ्रमस्येव मिथ्यावाक्यैर्द्विजन्मनः ।
को विष्णुः किं नु तद्रूपं कुत्रास्ते मन्दिरो हरिः ॥ २७ ॥

अहमेवेश्वरो लोके त्रैलोक्याधिपतिर्मतः। मामेवार्चय गोविन्दं त्यज शत्रुं दुरासदम् ॥ २८ ॥
अथवा शङ्करं देवं रुद्रं लोकगुरुं प्रभुम्। अर्चयस्व सुराध्यक्षं सर्वैश्वर्यप्रदं शिवम् ॥ २९ ॥
त्रिपुण्ड्रधारणं कृत्वा भस्मना दैत्यपूजितम्। पूजयित्वा महादेवं पाशुपतोक्तमार्गतः ॥ ३० ॥

रुद्र उवाच—

इति दैत्यपतेर्वाक्यं श्रुत्वा दैत्यपुरोहिताः ॥ ३१ ॥

पुरोहिता ऊचुः—

एवमेव महाभाग कुरुष्व वचनं पितुः। त्यज शत्रुं कैटभारिं पूजयस्व त्रिलोचनम् ॥ ३२ ॥
रुद्रात्परतरो देवो नास्ति सर्वप्रदो नृणाम्। पिता तवापि तस्यैव प्रसादादीश्वरोऽभवत् ॥३३॥

रुद्र उवाच—

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रह्लादो जन्म वैष्णवः ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद उवाच—

अहो भगवतः श्रैष्ठ्यं यन्मायामोहितं जगत्।
अहो वेदान्तविद्वांसः सर्वलोकेषु पूजिताः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणा अपि चापल्याद् वदन्त्येवं मदान्विताः। नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम् ॥

नारायणः परो ध्याता ध्यानं नारायणः परम्।
गतिर्विश्वस्य जगतः शाश्वतः स शिवोऽच्युतः ॥ ३७ ॥

धाता विधाता जगतो वासुदेवः सनातनः। विश्वमेवेदं पुरुषः तद् विश्वमुपजीवति ॥ ३८ ॥
हिरण्यवपुर्नित्यः पुण्डरीकनिभेक्षणः। श्रीभूलीलापतिः सौम्यो निर्मलो शुभविग्रहः ॥ ३९ ॥
तेनैव सृष्टौ ब्रह्मेशौ सर्वदेवोत्तमावुभौ। तस्यैवाज्ञां पुरस्कृत्य वर्तेते ब्रह्मशङ्करौ ॥ ४० ॥
भीषाऽस्माद्वाति पवनो भीषोदेति दिवाकरः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥
आसीदेको हरिर्देवो नित्यो नारायणः परः। न ब्रह्मा न च ईशानो न च चन्द्रदिवाकरौ ॥
न द्यावापृथिव्यौ च नक्षत्राणि दिवौकसः। तस्य विष्णोः परं धाम सदा पश्यन्ति सूरयः ॥
एवं सर्वोपनिषदामर्थं हित्वा द्विजोत्तमाः। रागाल्लोभाद्वाप्यन्यत्र मतिमानसाः ॥ ४४ ॥
तं सर्वरक्षकं देवं त्यक्त्वा सर्वेश्वरं हरिम्। कथं पाषण्डमाश्रित्य पूजयामि च शङ्करम् ॥४५॥
लक्ष्मीपतिं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्। इन्दीवरदलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम् ॥ ४६ ॥
श्रीवत्सलक्षितोरस्कं सर्वाभरणभूषितम्। सदाकुमारं सर्वेषां नित्यानन्दसुखप्रदम् ॥ ४७ ॥
कृष्णं ध्यायेन् महात्मानो योगिनः सनकादयः। यमर्चयन्ति ब्रह्मेश शक्राद्या देवतागणाः ॥४८॥
यस्य पत्न्याः कटाक्षार्धदृष्ट्या हृष्टा दिवौकसः। ब्रह्मेन्द्ररुद्रवरुणयमसोमधनाधिपाः ॥ ४९ ॥
यन्नामस्मरणादेव पापिनामपि सत्वरम्। मुक्तिर्भवति जन्तूनां ब्रह्मादीनां सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

स एव रक्षकः श्रीशो देवानामपि सर्वदा।

तमेव पूजयिष्यामि लक्ष्म्या संयुतमीश्वरम्। प्राप्स्यामि सुसुखे नैव तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

रुद्र उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा हिरण्यकशिपुस्ततः ।

क्रोधेन महताविष्टो जज्वालाग्निरिवापरः । परितो वीक्ष्य दैतेयानित्याह क्रोधमूर्छितः ॥५२॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

भीषणैः शस्त्रसङ्घातैः प्रह्लादं पापकारिणम् । समाहृता घातयध्वं शत्रुभजनतत्परम् ॥ ५३ ॥

रक्षिता हरिरेवेति वक्ष्यते तेन वै बलात् । अत्रैव मत्कृते तस्य पश्येयं हरिरक्षणम् ॥ ५४ ॥

रुद्र उवाच—

ततो धृतास्त्रा दैतेया हन्तुं दैत्येश्वरात्मजम् । परिवार्य महात्मानं तस्थुर्दैत्येश्वराज्ञया ॥ ५५ ॥

प्रह्लादोऽपि तथा विष्णुं ध्यात्वा हृदयपङ्कजे । जपन्नष्टाक्षरं मन्त्रं तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥५६॥

तं जघ्नुः परितो वीराः शूलतोमरशक्तिभिः । प्रह्लादस्य वपुस्तत्र हरिसंस्मरणाच्छुभे ॥५७॥

विष्णोः प्रभावाद् दुर्धर्षं वज्रतुल्यमभूद् महत् । अथ सम्प्राप्य तद्गात्रं महास्त्राणि सुरद्विषाम् ॥

छिन्नानि च क्षितौ पेतुर्नीलोत्पलदलानि वै । अस्त्रमप्यस्य तद्गात्रं भेत्तुं दैत्या न च क्षमाः ॥

विस्मितावाङ्मुखास्तस्थुर्दैत्यराजोऽन्तिके भटाः ।

तादृग्विधं महात्मानं दृष्ट्वा पुत्रं तमक्षतम् ॥ ६० ॥

विस्मयं परमं गत्वा दैत्यराट् क्रोधमूर्च्छितः ।

आदिदेश ततः सर्पान्दन्दशूकान् महाविषान् ॥ ६१ ॥

वासुकिप्रमुखान् भीमान् संदशध्वमिति ब्रुवन् ।

आदिष्टास्तेन राज्ञाऽथ ते नागाः सुमहाबलाः ॥ ६२ ॥

ज्वलितास्या महाभीमास्तं चखादुर्महाबलम् । गरुडध्वजभक्तं तं विदश्य गरलायुधाः ॥६३॥

निर्विषा दग्धदशना बभूवुरनिलाशनाः । तेनतेजःसहस्रेण छिन्नगात्राः सुविह्वलाः ॥ ६४ ॥

सद्रुद्रुर्दिशः सर्वा वमन्तो रुधिरं मुहुः । तादृग्विधांस्तु महासर्पान् दृष्ट्वा दैत्यपतिस्तदा ॥

आदिदेश ततः क्रुद्धो दिग्गजांस्तु महाद्विपान् ।

नोदितास्तेन राज्ञाऽथ दिग्गजाश्च मदोद्धताः ॥ ६६ ॥

परिवार्य तं जघ्नुर्दन्तैः पृथुतरैर्भृशम् । अथ दिग्गजदन्ताश्च छिन्नमूलाः पतन् भुवि ॥ ६७ ॥

दन्तैर्विना हता नागा भृशार्ता विप्रदुद्रुवुः ।

तान्दृष्ट्वाऽथ महानागान् दैत्येन्द्रः कुपितो बली ॥ ६८ ॥

प्रज्वाल्य महावह्निं चिक्षेप सुतमात्मनः । जज्वालाग्निरिव दृष्ट्वा प्रह्लादं हव्यवाहनः ॥ ६९ ॥

न ददाह च तं धीरं प्रह्लादो ध्यानवच्छिखी ।

अदह्यमानं तं बालं दृष्ट्वा राजा सुविस्मितः ॥ ७० ॥

प्रादाच्चास्मै विषं घोरं सर्वभूतहरं तदा । तस्य विष्णोः प्रभावाच्च विषमप्यमृतं भवेत् ॥ ७१ ॥

अर्पणात्तस्य देवस्य तदेवामृतमद्भुतम् । एवमादैर्भूयोपायैर्घोररूपैः सुदारुणैः ॥ ७२ ॥

नोदहिंसन्नतस्तं तु तस्यावध्यत्वमेव च । ततः सम्राट् सुतं प्राह दैत्यराड् विस्मयाकुलः ॥७३॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

त्वया विष्णोः परत्वं च सम्यगुक्तं ममाग्रतः ।
व्यापित्वात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७४ ॥

योऽसौ सर्वगतो देवः स एव परमेश्वरः । तस्य सर्वंगतत्वं वै प्रत्यक्षं दर्शयस्व मे ॥ ७५ ॥
ऐश्वर्यशक्तितेजांसि ज्ञानवीर्यवलानि च । पश्येयं तस्य परमं रूपं गुणविभूतयः ॥ ७६ ॥
सम्यग्दृष्ट्वा प्रयत्नेन विष्णुं मन्ये दिवौकसम् । मम प्रतिवलो लोके नास्ति देवेषु कश्चन ॥

ईशानवरदानेन सर्वभूतेष्ववध्यताम् ।

प्राप्तवान् सर्वभूतानां दुर्जयत्वं च मानद । ईश्वरत्वं लभेद्विष्णुर्मां जित्वा वलवीर्यतः ॥ ७८ ॥

महादेव उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः प्राह विस्मितः । हरेः प्रभावं दैत्यस्य कथयामास सुव्रतः ॥

प्रह्लाद उवाच—

योऽसौ नारायणः श्रीमान् परमात्मा सनातनः । वसनात्सर्वभूतेषु वासुदेवः स उच्यते ॥
सर्वस्यापि जगद्धाता विष्णुरित्यभिधीयते । न किञ्चिदस्मादन्यत्र जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥८१॥
सर्वत्र चिदचिद्वस्तु रूपं तस्यैव नान्यथा । त्रिपाद्व्याप्तिः परव्योम्नि पादव्याप्तिरिहाच्युतः ॥

योऽसौ चक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।
योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित् ॥ ८३ ॥

द्रष्टुं न शक्यो रोषाद्वै मत्सराद्यैर्जनार्दनः । देवतिर्यङ्मनुष्येषु स्थावरेऽपि च जन्तुषु ॥८४॥

व्याप्य तिष्ठति सर्वेषु क्षुद्रेष्वपि महत्सु च ॥ ८५ ॥

महादेव उवाच—

इति प्रह्लादवचनं श्रुत्वा दैत्यवरस्तदा । उवाच रोषताम्राक्षो भर्त्संयन्स्वसुतं मुहुः ॥ ८६ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

असौ सर्वगतो विष्णुरपि चेत्परमः पुमान् । प्रत्यक्षं दर्शयस्वाद्य वहुभिः किं प्रलापितैः ॥८७॥
इत्युक्त्वा सहसा दैत्यः प्रासादस्तम्भमात्मनः । ताडयामास हस्तेन प्रह्लादमिदमब्रवीत् ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच—

अस्मिन्दर्शय तं विष्णुं यदि सर्वगतो भवेत् ।
अन्यथा त्वां वधिष्यामो मिथ्यावाक्यप्रलापिनम् ॥ ८९ ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्त्वा सहसा खड्गमाकृष्य दितिजेश्वरः । प्रह्लादोरसि चिक्षेप हन्तुं खड्गेन तं रुषा ॥९०॥

तस्मिन्क्षणे महाशब्दः स्तम्भे संश्रूयते भृशम् ।
संवर्ताशनिनिर्घोषैः खमिव स्फुटितान्तरम् ॥ ९१ ॥

तेन शब्देन महता दैत्यश्रोत्रविघातिना । सर्वे निपातिता भूमौ छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ ९२ ॥

विस्मिताः सप्तुत दैत्या मेनिरे वै जगत्त्रयम् ।
तत स्तम्भे महातेजा निष्क्रान्तो वै महाहरिः ॥ ९३ ॥
चकार सुमहाघोरं जगत्क्षयकरं स्वनम् । तेन नादेन महता तारकाः पतिता भुवि ॥ ९४ ॥
नृसिंहं वपुरास्थाय तत्रैवाऽऽविरभूद्धरिः । अनेककोटिसूर्याग्नितेजसा सममावृतः ॥ ९५ ॥
मुखे पञ्चाननप्रख्यः शरीरे मानुषाकृतिः । दंष्ट्राकरालवदनः स्फुरज्जिह्वावरोद्भवः ॥ ९६ ॥
ज्वालावलिनिवेशान्तरनमालातेक्षणो विभुः । सहस्रबाहुभिर्दीर्घैः सर्वायुधसमन्वितैः ॥९७॥
भूत्वो मेरुरिवाभाति बहुनाशनपान्वितः । दिव्यमाल्याम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ९८ ॥
तस्थौ नृकेसरी तत्र संहर्तुं सर्वदानवान् । तं दृष्ट्वा घोरसंकाशं नारसिंहं महाबलम् ॥ ९९ ॥
[दग्धाक्षिपक्ष्मो दैत्येन्द्रो विह्वलाङ्गः पपात ह ।
प्रह्लादोऽथ तदा दृष्ट्वा नारसिंहोपमं हरिम् ॥ १००]
जयशब्देन देवेशं नमश्चक्रे जनार्दनम् । ददर्श तस्य गात्रेषु नृसिंहस्य महात्मनः ॥ १०१ ॥
लोकान्समुद्रान्सद्वीपान् सुरगन्धर्वमानुषान् । अण्डजानां सहस्रं तु सटाग्रे तस्य दृश्यते ॥
दृश्यन्ते तस्य नेत्रेषु सोमसूर्यादयस्तथा ।
[कर्णयोरश्विनौ देवौ दिशश्च विदिशस्तथा ॥ १०३ ॥]
ललाटे अक्षरद्रौ च नसो वायुश्च नासिके ।
इन्द्राग्नी तस्य वक्त्रान्ते जिह्वायां च सरस्वती ॥ १०४ ॥
दंष्ट्रासु सिंहशार्दूलशरभाश्च महोरगाः ।
कण्ठे च दृश्यते मेरुः स्कन्धेष्वपि(न्येऽपि च)महाद्रयः ॥ १०५ ॥
देवतिर्यङ्मनुष्याश्च बाहुष्वपि महात्मनः ।
नाभौ चास्यान्तरिक्षं च पादयोः पृथिवी तथा ॥ १०६ ॥
रोमस्वौषधयः सर्वाः पादपा नखपङ्क्तिषु । निश्वासेषु च वेदाश्च साङ्गोपाङ्गसमन्विताः ॥१०७॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः । सर्वाङ्गेषु प्रदृश्यन्ते गन्धर्वाप्सरसश्च ये ॥१०८॥
इत्थं विभूतयस्तस्य दृश्यन्ते परमात्मनः । श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं वनमालाविभूषितम् ॥
शङ्खचक्रगदाखड्गशार्ङ्गधैर्हेतिभिर्युतम् । सर्वोपनिषदामर्थं दृष्ट्वा दैत्येश्वरात्मजः ॥११०॥
हर्षाश्रुजलसिक्ताङ्गः प्रणनाम मुहुर्मुहुः । दैत्येन्द्रस्तु हरिं दृष्ट्वा क्रोधान्मृत्युवशे स्थितः ॥१११॥
योद्धुं खड्गं समुद्यम्य नृसिंहं तमथाद्रवत् ॥ ११२ ॥
स्वान्यायुधानि चादाय हरिं जघ्नुस्त्वरान्विताः । फल्गुकाण्डानि यथा वह्नौ क्षिप्तान्यनेकशः ॥
तथैव भस्मतां यान्ति महास्त्राण्यायुधानि वै । तान्यनेकानि दैत्यानां दृष्ट्वा नरहरिस्तदा ॥
सटैर्ददाह च ज्वालामालाविरचितस्फुटैः । नृकेसरिसटोद्भूतवह्निना दानवा भृशम् ॥११५॥
निर्भस्मिताः क्षणात्सर्वे निःशेषं तदभूद्बलम् ।
प्रह्लादं सानुगं हित्वा रक्षितं रक्षसा कृते ॥ ११६ ॥
क्रोधाद्दैत्यपतिं खड्गमादायाभ्यपद्यत । खड्गहस्तं तु दैत्येन्द्रं जग्राहैकेन बाहुना ॥११७॥
पातयामास देवेशो यथा वाता महानिलः । गृहीत्वा पतितं भूमौ महाकायं नृकेसरी ॥११८॥

स्वोत्सङ्गे स्थापयित्वा च ददर्शासौ मुखं हरेः (हरिः)।
विष्णुनिन्दाकृतं पापं तथा वैष्णवद्वेषजम् ॥ ११९ ॥

नृसिंहस्पर्शनादेव निर्भस्मितमभूत्तदा। अथ दैत्येश्वरस्यासौ महद्गात्रं नृकेसरी ॥ १२० ॥
नखैर्विदारयामास तीक्ष्णैर्वज्रनिभैर्घनैः। स निर्मलात्मा दैत्येन्द्रः पश्यन्साक्षान्मुखं हरेः ॥१२१॥
नखैर्निर्भिन्नहृदयः कृतार्थो विजहावसून्। तद्गात्रं शतधाभित्वानखैस्तीक्ष्णैर्महाहरिः ॥१२२॥
आकृष्यान्त्राणि दीर्घाणि कण्ठे संसक्तवान् प्रियात्। अथ देवगणाः सर्वे मुनयश्च तपोधनाः ॥
ब्रह्मरुद्रौ पुरस्कृत्य शनैः स्तोतुं समाययुः। ते प्रसादयितुं भीता ज्वलितं विश्वतोमुखम् ॥१२४॥
मातरं जगतां धात्रीं चिन्तयामासुरीश्वरीम्। हिरण्यवर्णां हरिणीं सर्वोपद्रवनाशिनीम् ॥१२५॥
विष्णोर्नित्यानवद्याङ्गीं ध्यात्वा नारायणीं शुभाम्। देवीसूक्तं जपन्ती वै नमश्चक्रुः सनातनीम् ॥
तैश्चिन्त्यमाना सा देवी तत्रैवाऽऽविरभूत्तदा। चतुर्भुजा विशालाक्षी सर्वाभरणभूषिता ॥१२७॥
दुकूलवस्त्रसहिता दिव्यमालानुलेपना। तां दृष्ट्वा देवदेवस्य प्रियां सर्वे दिवौकसः ॥१२८॥
ऊचुः प्राञ्जलयो देवीं प्रसन्नं कुरु ते प्रियम्। त्रैलोक्यस्याभयं स्वामी यथा दद्यात्तथा कुरु ॥

महादेव उवाच—

इत्युक्ता सहसा देवी प्रियं प्राप्य जनार्दनम्। प्रणिपत्य नमस्कृत्य प्रसीदेति उवाच तम् ॥

तां दृष्ट्वा महिषीं स्वस्य प्रियां सर्वेश्वरो हरिः।
रक्षःशरीरजं क्रोधं तत्याज स तु तत्क्षणात् ॥ १३१ ॥

अङ्कमादाय तां देवीं समाश्लिष्य दयानिधिः। कृपासुधार्द्रदृष्ट्या वै निरैक्षत महाहरिः ॥१३२॥
ततो जय जयेत्युच्चैः स्तुवतां नमतां तदा। तद्यथादृष्टि तुष्टानां सानन्दः संभ्रमोऽभवत् ॥
ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः। ऊचुः प्राञ्जलयो देवं नमस्कृत्य जगत्पतिम् ॥१३४॥

देवा ऊचुः—

द्रष्टुमत्यद्भुतं तेजो न शक्तास्ते जगत्पते। अत्यद्भुतमिदं रूपं बहुबाहुपदाङ्कितम् ॥१३५॥
जगत्त्रयं समाक्रान्तं तेजस्तीक्ष्णतरं तव। द्रष्टुं स्थातुं न शक्ताः स्म सर्व एव दिवौकसः ॥

महादेव उवाच—

अभ्यर्थितस्तु विबुधैस्तेजस्तदतिभीषणम्। उपसंहृत्य देवेशो बभूव सुखदर्शनः ॥ १३७ ॥
शरत्कोटीन्दुसंकाशः पुण्डरीकनिभेक्षणः। सुधामयसटापुञ्जविद्युत्कोटिनिभः शुभः ॥ १३८ ॥
नानारत्नमयैर्दिव्यैः केयूरैः कटकान्वितैः। बाहुभिः कल्पवृक्षस्य शाखौघैरिव सत्फलैः ॥१३९॥
चतुर्भिः कोमलैर्दिव्यैरन्वितः परमेश्वरः। जपाकुसुमसंकाशैः शोभितः करपङ्कजैः ॥ १४० ॥
शङ्खचक्रगृहीताभ्यामुद्बाहुभ्यां विराजितः। वरदाभयहस्ताभ्यामितराभ्यां नृकेसरी ॥१४१॥
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्को वनमालाविभूषितः। उद्यद्दिनकराभाभ्यां कुण्डलाभ्यां विराजितः ॥
हारकेयूरकटकैर्भूषणैः समलङ्कृतः। सव्याङ्कस्थश्रिया युक्तो राजते नरकेसरी ॥ १४३ ॥
लक्ष्मीनृसिंहं तं दृष्ट्वा देवताः समहर्षयः। आनन्दाश्रुजलैः सिक्ता हर्षनिर्भरचेतसः ॥१४४॥
आनन्दसिन्धुमग्नास्ते नमश्चक्रुर्निरन्तरम्। अर्चयामासुरात्मेशं दिव्यपुष्पसमर्पणैः ॥१४५॥

रत्नकुम्भैः सुधापूर्णैरभिषिच्य सनातनम् । वस्त्रैराभरणैर्गन्धैः पुष्पैर्धूपमनोरमैः ॥१४६॥
दिव्यैर्निवेदितैर्दीपैरर्चयित्वा नृकेसरिम् (?) । तुष्टुवुर्दिव्यस्तुतिभिर्नश्चमुर्मुहुर्मुहुः ॥१४७॥
ततः प्रसन्नो लक्ष्मीशस्तेषामिष्टान्वरान्ददौ । ततो देवगणैः सार्धं सर्वेशो भक्तवत्सलः ॥१४८॥
प्रह्लादं सर्वदैत्यानां चक्रे राजानमव्ययम् । आश्वास्य भक्तं प्रह्लादमभिषिच्य सुरोत्तमैः ॥
ददौ तस्मै वरानिष्टान् भक्तिं चाव्यभिचारिणीम् । ततो देवगणैः सार्धं स्तूयमानो नृकेसरी ॥
विकीर्णः पुष्पवर्षैस्तु तत्रैवान्तरधीयत । ततः सुरगणाः सर्वे स्वं स्वं स्थानं प्रपेदिरे ॥१५१॥

पुनश्च यज्ञभागांश्च बुभुजुः प्रीतमानसाः ।
ततो देवाः सगन्धर्वाः निरातङ्काऽभवंस्तथा ॥ १५२ ॥

तस्मिन्हते महादैत्ये सर्वे एव महर्षिता । प्रह्लादस्तु तदा चक्रे राज्यं धर्मेण वैष्णवः ॥१५३॥
हरेः प्रसादलब्धं तु वैष्णवं राज्यमुत्तमम् । बहुभिर्यज्ञदानाद्यैरर्चयित्वा नृकेसरिम् ॥१५४॥
काले हरिपदं प्राप्तो योगिगम्यं सनातनम् । एतत्प्रह्लादचरितं ये तु शृण्वन्ति नित्यशः ॥१५५॥
ते सर्वे पापनिर्मुक्ता यास्यन्ति परमां गतिम् । एतत्ते कथितं देवि नृसिंहं वैभवं हरेः ॥

शेषां च वैभवावस्थां शृणु देवि यथाक्रमम् ॥ १५६ ॥



कथा-सार

कथा का सार यों है:—

भगवान् रुद्र पार्वती से बोले कि अपने भाई हिरण्याक्ष को युद्ध में मरा देख हिरण्यकशिपु को दारुण संताप हुआ और उसने दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त श्री शंकर की अर्चना की। शंकर ने प्रसन्न होकर उससे इष्ट वर मांगने को कहा जिस पर उसने देव-दानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी से अवध्यता का वर माँगा। शंकर 'तथास्तु' कह कर चले गये।

अवध्यता का वर पाकर दैत्यराट् अभिमान में चूर हो मनमाने अत्याचार करने लगा और यज्ञ में देवताओं को दिये जाने वाले भाग को भी स्वयं ही भोगने लगा। इन्हीं दिनों उसने उत्तानपाद की कल्याणी नामक कन्या से विवाह किया जिससे उसे विष्णुभक्त प्रह्लाद नामक पुत्र का लाभ हुआ।

प्रह्लाद की शिक्षा-दीक्षा यथाविधि संपन्न हुई और वह गुरुकुल से सब विद्याओं में निपुण होकर घर लौटा।

घर आते ही पिता ने उसे गोद में ले लिया और उससे पूछा कि तुमने गुरुकुल में क्या-क्या सीखा है। प्रह्लाद ने अपनी कथा विष्णु को नमस्कार करके आरम्भ की। किन्तु विष्णु का नाम सुनते ही हिरण्यकशिपु के कान खड़े हो गये और वह तड़क कर बोला कि 'यह विष्णु कौन है जिसका नाम तुमने इतने प्रेम से लिया है।' उसकी विष्णुभक्ति का दोष गुरु के माथे मढ़ कर दैत्यराट् ने गुरु के वध की आज्ञा अपने भृत्यों को दी; किन्तु प्रह्लाद ने यह कह कर कि 'इसमें गुरुजी का क्या दोष ? यह तो मेरी अपनी ही सहज भक्ति है' अपने गुरु की रक्षा की। तब दैत्यराट् प्रह्लाद से बोला कि विश्व में विष्णु का क्या काम ? इसका पालक एवं संहर्ता तो मैं हूँ—तुम मेरी पूजा करो—और यदि तुम्हें मेरे से पृथक् ही देव की वन्दना करनी है तो श्री शंकर की आराधना करो, जिन्होंने कि मेरा मनोरथ साधा है। विष्णु को मन से भुला दो; वह है ही कहाँ कि तुम उसे पूजो ?' किन्तु कल्याण-मार्ग के पथिक प्रह्लाद ने पिता की एक न सुनी—उसे तो जग के कण-कण में विष्णु की लीला दीख रही थी; जिधर देखो वहीं उसे उन्हीं का रास चलता दीख रहा था। उसने फिर पिता के सम्मुख विष्णु का स्तव आरम्भ कर दिया। दैत्यराट् के क्रोध का पारा उछल गया और उसने दैत्यों को प्रह्लाद का वध करने की आज्ञा दे दी।

दैत्यराट् का आदेश होना था कि प्रह्लाद पर अस्त्र शस्त्रों की बौछार पड़ने लगी—उसे पहाड़ से गिराया गया, साँपों से कटवाया गया, दिग्गजों से कुचलवाया गया—यहाँ तक कि उसे अग्निकुण्ड में डाल दिया गया। किन्तु जिसका वर्म स्वयं विष्णु भगवान् बन गये हों उस पर चोट कैसी? दैत्यों के अस्त्र कुण्ठित हो गये, पहाड़ रार बन गए, सांप गिजाई बन गए, दिग्गज हिरण्य बन गए और अग्निकुण्ड से सोते हुए निकले—विष्णु का वैभव! उसके चेरे को आँच कैसी?

इस प्रकार के सभी उपायों को प्रह्लाद पर बेकार होते देख दैत्यराट् से न रहा गया और वह स्वयं खड्ग लेकर उस पर लपका और बोला 'कहाँ है अब तेरा वह विष्णु! बुला उसे सामने! यदि वह सर्वव्यापक है तो क्यों नहीं निकलता सामने के इस स्तम्भ से? अब तुम न होगे और तुम्हारा विष्णु न होगा! दोनों ही मेरी तलवार से खत रहेंगे।' यह कहकर उसने अपनी दारुण तलवार प्रह्लाद पर फेंक दी। तलवार का प्रह्लाद तक पहुँचना था कि खम्भे से दिव्य नाद हुआ और उसी के साथ उसमें से नृसिंह आविर्भूत हो गये। प्रह्लाद उस अवतार का दर्शन करते ही गद्गद हो उनकी आराधना में लग गये, किन्तु दैत्यगण उसके विकराल रूप को देख भाग उठे हुए, और कुछ वहीं पर गिर पड़े। किन्तु हिरण्यकशिपु तो शेर की मज्जा पर पला था—वह न डरा और न विचलित ही हुआ, उसका खड्ग उठाकर नृसिंह पर झपटा, किन्तु उसके आने से पहले ही नृसिंह ने अपने पंजों से उसे चीर डाला। हिरण्यकशिपु के गिरते ही सारे दैत्य टूट पड़ गये।

नृसिंह का क्रोध पराकाष्ठा पर जा लगा था, धरती उसे देख थर्रा उठी और देवताओं ने महालक्ष्मी की आराधना करके उसे उनके सम्मुख भेजा। भगवती का दर्शन पाकर नृसिंह शान्त हो गये, और उन्हें अपनी अङ्क में बिठाकर उन्होंने शान्त मुद्रा से देवताओं की ओर देखा। देवताओं को त्रस्त देखकर उन्होंने उग्र रूप त्यागकर अपने यथार्थ सौम्यमय रूप को धारण कर लिया। तब देवगण प्रसन्न होकर 'जय जय' बोल उठे।

इस घटना ने प्रह्लाद की भक्ति को चार चाँद लगा दिये और उसकी नस-नस में अब विष्णु की भक्ति रम गई। उसका यथाविधि राजतिलक हुआ और लक्ष्मी का सत्संग पाकर उसकी भक्ति और भी निखर उठी।

पद्मपुराण का यह कथांश कुछ बातों में अनूठा है। इसमें भगवान् ने प्रह्लाद पर होने वाले अत्याचारों से रोषकर नृसिंहावतार धारण किया और हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को विष्णुभक्ति छोड़ शङ्कर की आराधना करने की बारम्बार सलाह दी, जो कि उसकी आस्तिकता का परिचायक है। उसका यह कथन —

अथवा शङ्करं देवं रुद्रं लोकगुरुं प्रभुम्।
अर्चयस्व सुराध्यक्षं सर्वैश्वर्यप्रदं शिवम्॥

उसकी आस्तिक भावना का ज्वलन्त प्रतीक है। किन्तु शैवों और वैष्णवों में यथार्थ-तत्त्व को न पहचानने के कारण झगड़ा होता रहा है—एक सम्प्रदाय रुद्र-शंकर का पुजारी रहा है तो दूसरा सम्प्रदाय मनोरञ्जक शंकर (= विष्णु) की आराधना करता आया है। एक ने भगवान् के दारुण रूप की नीराजना की है तो दूसरे ने उसके रुचिकर लोक-संग्राहक रूप की अर्चना की है। मत्स्यपुराण के प्रस्तुत उपाख्यान में (शंकर के दारुण रूप का परित्याग करके) विष्णु के दारुण रूप की उत्थानिका की गई है और बताया गया है कि विष्णु ही समय-समय पर भक्तभयहरण के लिये दारुण रूप धारण करते हैं।

यह हुआ पद्मपुराण का नृसिंहावतार-वर्णन। सूर्यदैवज्ञ ने इसी के आधार पर अपने चम्पू का निर्माण किया है और विष्णु-स्तवन को ही ज्ञान-विज्ञानों का सार मान कर अपने जीवन का चरम लक्ष्य इसे ही बनाया है।

उद्धृत पुराणखण्डों में कौन सा पूर्व और कौन सा बाद का है इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर विकास-क्रम को कसौटी मान लिया जाय तो कुछ निम्न प्रकार की रूपरेखा उभरती दीखेगी।

'हिरण्यकशिपु के वधार्थ नृसिंहावतार हुआ' इस बात पर सभी पुराण एकमत हैं। अतः कथा का मूलतत्त्व इस बात को मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसी एक रेखा के द्वारा सब कथाखण्डों में तात्त्विक एकता उभरती है।

सब से पहले ब्रह्मपुराण को लीजिये; इसमें इसी मूलतत्त्व का मुख्य रूप से प्रतिपादन है। हिरण्यकशिपु की आततायिता के कारण नृसिंह का अवतार हुआ बस यही इस पुराणांश का प्रतिपाद्य विषय है। यहां न तो नृसिंह का वैशिष्ट्य ही अभिधेय है और न प्रह्लाद की विष्णुभक्ति ही।

इसके बाद स्कन्दपुराण के कथाभाग को लीजिये—इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन करके मूलकथा में वैशिष्ट्य का समावेश किया गया है। सच पूछिये तो इसमें नृसिंह-तीर्थ का वर्णन अपेक्षित है न कि नृसिंह के माहात्म्य का प्रतिष्ठान। फलतः यह कथाभाग ब्रह्म-पुराण के बाद का दीख पड़ता है।

इसके अनन्तर ब्रह्माण्ड तथा वायु-पुराण को रखा जाय तो अनुचित न होगा। इन पुराण-खंडों में मूलकथातत्त्व के साथ प्रह्लाद का नामोल्लेख समाविष्ट है। भागवत आदि पुराणों में प्रह्लाद ही की उपनायक के रूप में प्ररोचना की गई है।

प्रस्तुत कथा का चतुर्थ संस्करण हमें कूर्मपुराण में होता दीख पड़ता है—इसमें प्रह्लाद हमारे संमुख एक भक्त पात्र के रूप में आते हैं—जो कि पहले-पहल पिता के आदेश पर भगवान् नृसिंह से युद्ध करते हैं, पर जब उनके सारे ही अस्त्र बेकार हो

जाते हैं तब वे विष्णु के भक्त बन जाते हैं। इस प्रकार यहाँ प्रह्लाद एक अभिनायक के रूप में प्रकट होते हैं।

इसके अनन्तर हम मत्स्य एवं पद्मपुराण के कथांशों को लेंगे। इन उपाख्यानों में प्रह्लाद भगवान् नृसिंह के विराट् रूप का दर्शन पाते हैं और उनके हृदय में विष्णु भक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। यहाँ वे पिता के आदेश पर विष्णु से युद्ध नहीं करते—अपितु अपने पिता को विष्णु की महिमा बताते हुए उनके सामने आते हैं। इन दोनों पुराणों में दैत्यराज की सभा का विस्तृत एवं मनोरञ्जक वर्णन है और उसके प्रचण्ड क्रोध एवं तज्जनित उपद्रव का फड़कता चित्रण है।

पद्मपुराण के उत्तरखंड का कथा भाग इस उपाख्यान का चरम संस्करण प्रतीत होता है। श्रीमद्भागवत एवं नृसिंहपुराण आदि में भी इससे मिलता-जुलता उपाख्यान उपलब्ध होता है। यहां पहुँच हिरण्यकशिपु, नृसिंह आदि सभी प्रह्लाद की विष्णुभक्ति में फीके पड़ जाते हैं और वही एक ज्वलन्त नक्षत्र की न्याईं आकाश में प्रकाशमान दीख पड़ते हैं। अथ से इति तक सारी ही कथा यहाँ प्रह्लाद के चहुँ ओर घूमती है। शैव वैष्णव का भेद भी यहाँ पहुँच कर भारी पड़ जाता है—पिता यदि शंकर की आराधना का हामी है तो पुत्र विष्णु की पूजा पर निर्बन्ध दिखाता है। यहाँ आकर नृसिंहावतार के मूल में भी भेद पड़ जाता है, अन्य पुराणों में नृसिंहावतार का कारण प्रजा एवं देवताओं पर किये गये हिरण्यकशिपु के अत्याचार हैं तो यहाँ उसका कारण पिता के हाथों प्रह्लाद पर किये गये अत्याचार हैं।

सूर्य दैवज्ञ ने अपने चम्पू का निर्माण इसी कथा के आधार पर किया है।

वैदिक काल से ही भारतीय आर्यों ने अनेकता को दुरा एकता में आनन्द ढूँढा है और इसीलिए उन्होंने ज्ञान के उन्मेष में इन्द्र, मित्र वरुण, यम आदि सभी देवताओं का पर्यवसान एक महान् देव में किया है, जिसका नाम कि उन्होंने ब्रह्म (= बड़ा) रखा है। उसी की खोज एवं उसी एक में तन्मय हो जाने में उन्होंने अपने जीवन की इति कर्त्तव्यता मानी है। और यह बात है भी हमारे अनुभव के अनुकूल ही—क्योंकि जब तक यह आत्मा अपने प्रियतम से मिलकर तदात्म नहीं हो जाता तब तक प्रेम रस अनछना रहता है और इन दोनों की सत्ता एकता के परम रस में सराबोर न हो जाने के कारण कुछ छितरी सी, कुछ बहकी सी, अपनी असली जगह से कुछ सरकी सी इधर-उधर भटकती रहती है। उपनिषदों ने 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' इसी लिए कहा है।

प्रेम का आकर्षण प्राणी के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना कि पानी के लिये बहना और वायु के लिये चलना। किंतु वह चाह किस काम की जिसका विषय नश्वर हो—नश्वर का मिठास तो अविनाशी से उधार लिया हुआ है। उसका अपना

कुछ भी नहीं है। इसी लिए मनीषियों ने आदि काल से ही उस अविनाशी तत्त्व से दिल लगाया है जो त्रिकालावाधित है, और जो सत्, चित्, आनन्द का घन रूप है। आह्लाद के इसी मूल स्रोत को तत्त्वज्ञानियों ने परमात्मा (=महान् आत्मा) कह कर पुकारा है।

यह परम तत्त्व इन्द्रियों की पहुँच से अतीत है, किन्तु क्या कहना इसकी करामात का? इस अव्यक्त ने अपने जादू से इस व्यक्त को प्रकट किया है—और क्योंकि व्यक्त करने के समय उस अव्यक्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, इस लिये कह सकते हैं कि उस अव्यक्त ने अपने आप को ही इस व्यक्त प्रपञ्च के रूप में प्रकट किया है। बस, अद्वैतवाद की भित्ति व्यक्ताव्यक्त के इसी भेदाभेद पर निर्भर है।

संक्षेप में अव्यक्त व्यक्त के रूप में प्रपञ्चित हुआ—यह कब हुआ और इसका अन्त कब होगा—इन समस्याओं से एक समझदार व्यक्ति को क्या? अव्यक्त का व्यञ्जन होना ही था और व्यक्त को एक दिन अव्यक्त बन ही जाना है—इसमें मानव का क्या चारा? हमारा नाता तो वर्तमान के साथ है; हमें तो वर्तमान प्रपञ्च के अन्तस्तल में पहुँच उसकी सतह ढूँढ़नी और वहाँ अपना बसेरा डालना है।

इस व्यक्त प्रपञ्च को चलाने वाले तत्त्व को मनीषियों ने विष्णु कहकर पुकारा है—क्योंकि विष्णुतत्त्व इस प्रपञ्च के कण-कण में व्याप्त है और वह इसे संतत किसी अज्ञात दिशा की ओर ले जा रहा है, या कहिये कि स्वयं विष्णु भगवान् इस विशाल प्रपञ्च रूपी देह को धारण किये हुये किसी अज्ञात पद की ओर तेजी से चले जा रहे हैं। यह अनन्त प्रपञ्च, यह विपुल काय, यह असीम शक्ति जो इसे तेजी से आगे बढ़ा रही है—मानव के आश्चर्य के लिए पर्याप्त से अधिक है। फिर इसके किसी एक कण को ध्यान से देखिये—कितने रंग हैं उसमें, कितनी भंगियां हैं उस एक में, कितनी अदाएँ, कितनी चितवनें और कितना मिठास है उस एक में। गुलाब की एक पंखड़ी को लीजिये—गिनिये उसके रेशों को और परखिये उसके मुसकराते रंगों को—वे कितने हैं, कैसे हैं—कितने चुप हैं पर कितना अधिक बोल रहे हैं वे अपनी उस मौन मुद्रा में? गुलाब की पंखड़ी के रेशे की चुप्पी में ब्रह्माण्ड का अमित रव भरा हुआ है। और यदि गुलाब के स्मित मौन तन्तु में आपको आनन्दमद नहीं मिल पाता तो आप अपने प्रियतम की पुतली के एक रेशे को निहारिये। कितना मादक महान समुद्र उमड़ रहा है उसमें? उसकी लहरों में आप झूल रहे हैं—उनमें आप सुतरां खोए जा चुके हैं किन्तु फिर भी आप सब कुछ कर रहे हैं। इस जीने-न जीने, रहने-न रहने को ही माया कहते हैं। इसी असीम मायावरण को छाती पर लिए हुए विष्णु भगवान् किसी अज्ञात दिशा की ओर आगे बढ़ रहे हैं। हमें अपनी चाल को उनकी चाल में मिलाकर एक कर देना है—अपने तिल समान देह को उनके विपुल काय में लीन कर देना है—क्योंकि वस्तुतः

दोनों एक हैं—हम उसी विपुल ज्वालामाल के शोल मात्र हैं, उसका विस्फार मात्र हैं।

यह हुआ वैष्णवों का अद्वैत। रामानुज ने इसका विशिष्टाद्वैत के रूप में, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत के रूप में, मध्व ने द्वैतवाद के रूप में और वल्लभ ने शुद्धाद्वैतवाद के रूप में समाधान किया है, जब कि शंकर का नितान्त अद्वैत सभी वादों की घाटियों को पार करके एकान्त के परम पद पर जा टिका है—किन्तु पूजा उसमें भी प्रतीयमान वर्तमान परम तत्त्व ही की है। बलदेव के अचिन्त्य भेदाभेदवाद में भी विष्णुतत्त्व ही की प्ररोचना हुई है, जब कि एक मात्र श्रीकण्ठ शैवाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शिवरूप परम तत्त्व की प्रतिष्ठा करके उसी में विलीन हो जाने में अपने जीवन को सार्थक माना है। कहने का आशय यह है कि अद्वैत की विशद रसधारा विष्णु के नाभिकमल से प्रवाहित हुई है—क्योंकि परम तत्त्व का वर्तमानकालिकरूप विष्णु है और एक मानव का सम्बन्ध वर्तमान काल के साथ है न कि अतीत अथवा भविष्यत् के साथ।

वर्तमान के साथ उत्पन्न हुए हमारे 'सहितपन' में ही साहित्य का उन्मेष हुआ है। कह सकते हैं कि जो वाणी परम तत्त्व के साथ मानव का 'सहितपन' अथवा तादात्म्य उभारती है सच्चा साहित्य वही है। शाश्वत तत्त्व के साथ 'सहितपन' ज्ञान चर्चा से नहीं होता, विज्ञान से नहीं होता, वह तो किसी उठती हुई उक्ति के द्वारा उन्नीत होता है जो अलङ्कारिणी प्रक्रिया में छन-छन कर, परिष्कृत हो-हो कर इतनी रसीली रुचिरा बन गई है कि शाश्वत तत्त्व का सारा ही व्यक्तित्व उसमें समा गया है, उसमें प्रतिफलित, रञ्जित एवं उन्मिषित हो गया है। इस प्रकार की उक्ति कवि के अन्तरात्मा से निकल विश्व के किसी एक बिन्दु पर पड़ता और उसे इतने विपुल आकार में परिवर्तित करके हमारे सम्मुख पेश करती है कि उसमें विष्णु का व्यापकरूप झलक जाता है और उसके असीम सौन्दर्यमय व्यक्तित्व का वह कण केन्द्र बन जाता है जिसे कि कवि आपकी आँखों में समाना चाहता है। और क्योंकि अब इस बिन्दु में विष्णुरूप अपार सागर भर गया है इसलिये अब यह बिन्दु भी अमर बन गया है—यावच्चन्द्रदिवाकर सहृदयों को रिझाने और हँसाने वाला बन गया है। साहित्य का यथार्थ मर्म इसी ज्ञान में है।

आप जिसे दिल से चाहते हैं उसे देखते नहीं, उसे तो आप अपनी आँखों से पिया करते हैं। आँखों द्वारा देखने पर गन्ने का गोला बड़ा मनोरम दीख पड़ता है। गन्ने के अग्रभाग का सुकुमार दलों में विभक्त होकर हवा में नाचना और आकाश में हँसना एवं बतियाना कितना प्यारा मालूम पड़ता है। किन्तु जब आप गन्ने को चूसते और निठल्ल के उन्माद में उसकी पोरी पोरी के टुकड़े कर डालते हैं तब आप गन्ने को देखते नहीं, उसे पीते हैं। और यह पीना कितना स्वादिष्ट है! कितनी गन्धों का रस इसमें भरा हुआ है। इस रस को आप चखते हैं बता नहीं सकते, क्योंकि यह आपका अपना सारा है और अपने प्यारे को आप किसी के सामने कैसे रखेंगे! देखने की प्रक्रिया

आपको एक अनोखी, किरणों में उतराती-सी लोकोत्तर आकृति दिखाती है तो पीने की प्रक्रिया आपको दृश्यमान आकृति का ध्वंस करके एक ऐसी आकृति का निर्माण करने में सशक्त करती है जो सुतरां वायुमयी या किरणमयी लजीली आकृति है, पर फिर भी जिसकी पोरी पोरी में मादक रस जोश मार रहा है; आपका अपना आपा छलक रहा है। इस रस के साथ आप एक हो जाते; पानी में नमक की न्याईं आप उसमें घुल-मिल जाते; और आपके रोम-रोम में एक अनोखी पीर फिरने लगती है; जिसे हम साहित्य की पीर कह कर पुकारा करते हैं। आचार्यों ने इसका नाम रसास्राव रखा है।

हमारे पुराणों में रस के उद्भव का अत्यन्त मनोरम वर्णन आता है। वृहद्धर्मोत्तर पुराण के ४३ वें अध्याय में स्वर्गलोक में गंगा अपनी जयमाला शिवजी को पहनाती हैं—प्रकृति-पुरुष के उस अनोखे सम्मिलन पर नारदमुनि एकत्र हुए देवगणों को एक ऐसी दिलकश तान सुनाते हैं जो धरती, अंबर को वेध श्रोताओं को अनिर्वचनीय आनन्द में सराबोर कर देती है और तब शिव-गंगा, देव-दानव, गन्धर्व-किन्नर सभी संगीत की पीर में झूम पड़ते हैं। ४४ वें अध्याय में राग और रागिनियों का मार्मिक विश्लेषण किया गया है—इन्हें सुन कर विष्णु का अन्तरात्मा दैवी रस में फूट पड़ता है और जगती का कण-कण उस रस में सराबोर हो जाता और उसमें इतना और ऐसा रस भर जाता है कि अब आप किसी भी विन्दु पर अपनी कविता की चोट मारिये उसी विन्दु से आपके सम्मुख पावन वैष्णव रस का स्रोता फूट निकलेगा। यह वैष्णव रस जगती के नाना जन-जनपदों में, उपवनों-आरामों में, खेतों और खलिहानों में वन की डाली-डाली में और घर की वाली-वाली में समान रूप से भर गया। ब्रह्मा ने लालायित होकर इस पावन रस को अपने कमण्डलु में भर लिया जिसमें कि गंगा जी पहले ही विद्यमान थीं। अब गंगा की बूँद-बूँद में यह दैवी रस समा गया और उनके तट पर लगीं प्रवाहित होने शाश्वत साहित्य की विशद धाराएँ, जिनसे भारत का कण-कण कूक उठा। वैष्णव रस को पुराणों ने वासुदेव कह कर पुकारा है—गोपियों के साथ उन्होंने इसी वैष्णव रस का रास रचाया है। वासुदेव का ही दूसरा नाम पुराणों ने स्कन्द बताया है जिनकी उत्पत्ति शिव जी के वीर्य से अग्नि के द्वारा गंगा में हुई थी। इस प्रकार आप देखते हैं कि किस प्रकार संगीत, साहित्य, वैष्णव रस, वासुदेव-गोपी-रास, वासुदेव-कुमार एवं शिव तथा गंगा साहित्य के एक तन्तु द्वारा आपस में मिल कर एक हो गए हैं—इन सब की एकता में ही यथार्थ रस का प्रादुर्भाव होता है—इस प्रादुर्भाव का सर्वोत्तम साधन एवं माध्यम यथार्थ साहित्य है।

हमारे वेद भी यथार्थ साहित्य हैं—किन्तु उनके साहित्य रस पर आध्यात्मिकता की पपड़ी जम गई है—देवपूजा की चादर ने उनके रस को ढक लिया है। साथ ही धर्म की भावना उनमें बलवती है—जिसके परदे में उनका साहित्यिक पहलू कुछ दब सा गया

है। किंतु वेदों की यह कमी हमारे दृश्य काव्य में पूरी हो गई है और लक्षण शास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि ने रस की चर्चा नाटक का रस लेने वाले दर्शकों के हृदय में अभिनय को देखकर उद्बुद्ध होने वाले आह्लाद के रूप में विस्तार के साथ की है।

वैदिक युग में अभिनय का अभीष्ट प्रचार था और वर्षों चलने वाले प्रलम्ब सत्रों के मध्य मनोविनोदार्थ अभिनय रचे जाया करते थे जिनमें कि वेद में आने वाले आख्यानसूक्त वार्तालाप का काम दिया करते थे। स्वस्थ समाज में मनोविनोद का साधन मुख्यतया अभिनय हुआ करता है—इस अभिनय का वैदिक युग में पूरा चलन था। भरतमुनि ने अभिनय प्रेक्षकों के हृदय में प्रवाहित होने वाले साहित्यिक रस का निरूपण करके अभिनय की प्राचीनता पर अच्छा संकेत किया है।

शनै शनै भारतीय आर्यों का उल्लास मन्द पड़ता गया और उनका अभिनय फीका पड़ने के साथ साथ कम भी होता गया, यहां तक कि एक युग ऐसा आया जब कि अभिनय राजाओं के दरबार की चारदीवारी में सीमित हो गया। अब दृश्यकाव्य के स्थान पर श्रव्य काव्य का महत्त्व उभरा और लाक्षणिकों ने अब उसी के द्वारा होने वाली रसनिष्पत्ति पर बल देना आरम्भ कर दिया।

भरत ने रस को साहित्य का हृदय मानते हुए अलङ्कारों को उसके प्ररोचक के रूप में माना है। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में 'शब्दार्थयुगल' को काव्य बनाकर भरतप्रतिपादित दस गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इन तीन गुणों में समावेश करते हुए वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल बनाया और दस प्रकार के दोषों का विशद विवेचन किया है। भामह की विवेचना में रस कुछ गौण बन गया है और अलङ्कारों को प्रधानता मिल गई है—जो कि इनके बाद सातवीं सदी में होने वाले आचार्य दण्डी की रचना काव्यादर्श में अक्षुण्ण बनी रही है। दण्डी ने काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, भेद, वैदर्भी तथा गौडी रीति, एवं दश गुणों का वर्णन किया है, दूसरे परिच्छेद में अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं, तीसरे में शब्दालङ्कारों का विशद वर्णन किया है और चौथे में दस दोषों के लक्षण एवं उदाहरण दिये हैं। इन्होंने अपनी रचना में पहली बार रीति पर प्रकाश डाला है।

वामन ने इस रीति ही को काव्य का आत्मा बताते हुए इसे चमकाने वाले अलङ्कारों का अपने काव्यालङ्कारसूत्र में सांगिक निरूपण किया है। इन्होंने वैदर्भी, गौडी, एवं पांचाली ये तीन रीतियां मानी हैं, वक्रोक्ति का अच्छा विवेचन किया है, और समस्त अलङ्कारों को उपमा का प्रपंच माना है।

वामन के समकालीन आचार्य उद्भट ने अलङ्कारशास्त्र का समर्थन करते हुए अपने काव्यालङ्कारसारसंग्रह नामक ग्रन्थ में ४१ अलङ्कारों का सप्रपंच निरूपण दिया है जिसकी रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में विशद पर्यालोचना की है।

इन आचार्यों के बाद आचार्य आनन्दवर्धन आते हैं। इन्होंने अपने ध्वन्यालोक में ध्वनि को काव्य का आत्मा बताते हुए उसी की विधाओं का मार्मिक विश्लेषण किया एवं आचार्यों का रुख अलङ्कारशास्त्र से मोड़ कर ध्वनितत्त्व की ओर आकृष्ट किया है। इनके ध्वन्यालोक पर आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन नाम की मार्मिक टीका लिखी और अपनी अनूठी रचना अभिनवभारती के द्वारा भरत के नाट्यशास्त्र की ओर आचार्यों का ध्यान आकृष्ट किया।

'कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित में काव्य का आधार वक्रोक्ति को सिद्ध किया जब कि महिमभट्ट ने अपने 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनि को अनुमान का ही एकरूप स्थापित किया। आचार्य धनञ्जय ने अपने दशरूपक के द्वारा नाट्य की ओर जनता का ध्यान फिर से आकृष्ट किया।

भोजराज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में एवं शृङ्गारप्रकाश में शृङ्गार को ही सब रसों का मूल बताते हुए रस की मार्मिक विवेचना की और अलंकार एवं गुण-दोषों को सहायक के रूप में उपस्थित किया।

आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश ध्वनिवाद के समर्थन में अनूठा उपकरण बनकर काव्यशास्त्र में अवतीर्ण हुआ, जब कि प्रख्यात आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचारचर्चा में औचित्य ही को काव्य का आधार बताया है। रुय्यक ने १२ वीं सदी में अलङ्कारसर्वस्व लिखकर अलङ्कारों पर फिर से जोर दिया; हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में यही प्रवृत्ति अनुप्राणित हुई। १४ सदी में कविराज विश्वनाथ ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्यदर्पण लिखा और उसमें काव्य का लक्षण 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्' बताकर रस की फिर से पुष्टि की। पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगङ्गाधर में इसी रस का अन्तिम परिपाक किया।

यह हुआ संस्कृत काव्यशास्त्र का छोटा सा सिंहावलोकन। भरत के साथ इसका प्रारम्भ रस में हुआ है और पंडितराज जगन्नाथ की रचना रसगङ्गाधर के साथ इसका पर्यवसान भी रस में हुआ है। जगन्नाथ ने अपनी रचना का नाम 'रसगंगाधर' रख कर साहित्यिक रस के आधारभूत वैष्णव रस की ओर मार्मिक संकेत किया है जो कि 'रस-गङ्गा' इस समस्त पद से व्यक्त है। प्रस्तुत चम्पू के निर्माता सूर्य दैवज्ञ को रसमार्ग ही मान्य था और उन्होंने अपने चम्पू में इसी वैष्णव रस की अनेक विधाओं का अनूठा उत्थापन किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला रस आह्लाद-रूप है और वह परम वैष्णव रस का ही स्थूलरूप है। परम वैष्णवरस—और उसके द्वारा साहित्यिक रस समानरूप से कण कण में विद्यमान है—साहित्य इसी की प्ररोचना करता और श्रोता एवं दर्शक के हृदय में इसी रस का उन्नयन करता है।

किन्तु इस रस की व्यापकता ही इस रस पर आश्रित हुए साहित्य के लक्षणों का दोष है, क्योंकि ठीक इसी रस की उत्थानिका संगीत को सुनकर, फड़कते चित्र को देख कर एवं दु:खदर्द एवं हर्षोल्लास की वीचियों में उभरने वाली मूर्ति को देख कर दर्शक के हृदय में हो जाती है। साहित्य के आत्मा रस को इसी दृष्टि से बाद के आचार्यों ने साहित्य का आत्मा बना कर साहित्य को ललित कलाओं की परिधि से पृथक् करने के लिए उसके लक्षणों में कभी वक्रोक्ति पर, कभी अनुमान पर और कभी ध्वनि पर बल दिया है— जो कि सब के सब समान रूप से अन्य ललित कलाओं में न मिल कर एक मात्र रसात्मा साहित्य में उपलब्ध होते हैं। और इस प्रकार जब कि भरत ने साहित्य के आत्मा रस को साहित्यिक जनता के सम्मुख रखा था वहाँ बाद के आचार्यों ने साहित्य के शब्द रूप का आर्थिक विश्लेषण करके उसे अन्य ललित कलाओं से पृथक् करते हुए उसका रूप सुस्थिर एवं अतिव्याप्ति दोष से बरी कर दिया है। हमारे साहित्यदर्शन के क्रमिक विकास की रूपरेखा कुछ इस प्रकार की है—इसे हृदयगम करके लक्षणशास्त्र का अध्ययन करने पर उसमें एक अनूठी व्यापकता उभर आती है जो कि हमें लक्षणशास्त्र के आज तक के अध्ययनों में नहीं दीख पड़ती।

काव्यशास्त्र का मूल और स्वरूप

ऋग्वेद के दशम मंडल के १७७ वें सूक्त का दूसरा मंत्र वाणी के उद्गम की तीन अवस्थाओं पर मार्मिक प्रकाश डालता है —

> पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
> तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥

मंत्र सूर्यपरक है, किंतु अनायास ही यह कवि की आविष्ट वाणी पर घट जाता है। वाणी का उद्गम संक्षेप में इस प्रकार है —प्रतिभा की अग्नि में तपकर कवि पतङ्ग अर्थात् सूर्य का रूप धारण कर लेता है और अपने दैवी आवेश के द्वारा वह जगती के कण कण में नव जीवन फूँक देता है। प्रतिभाविद्युत् का कड़कना ही उसके अन्तस् में वाणी के अङ्कुर फूट निकलते हैं। वाणी की यह अवस्था परा कहाती है। प्रतिभान की दूसरी स्टेज पर कवि गंधर्व अर्थात् गोरूप वाणी को धारण करने वाला बन जाता है और इस स्थिति में उसकी वाणी वर्णों में व्याकृत होने के लिए आगे बढ़ती है, उसकी यही अवस्था मध्यमा है। प्रतिभा की तृतीय अवस्था में पहुँच कर कवि की वाणी सर्वाङ्गपूर्ण बन कर वर्ण-पद-वाक्य में बिखर जाती है और अपनी लहरियों से वह संसार को सरमित करने वाले 'ऋत' को तरङ्गित कर देती है। इस ऋतरूप रस को विश्व में प्रवाहित करना और जगती के कण कण को उसमें सराबोर कर देना ही सच्चे कलाकार की वाणी का चरम लक्ष्य है। वाणी की इसी अवस्था को हम वैखरी संज्ञा देते हैं।

मंत्र का पहला शब्द 'पतङ्ग' कवि के अंतस् में उद्दीप्त होकर जलने वाली प्रतिभाग्नि के व्यापार को उपलक्षित करता है। इस दैवी अग्नि के जल उठने पर कवि की भौतिकता उसमें भस्म हो जाती है और नितरां सूक्ष्म रह जाने के कारण कवि जीवन के आदिस्रोत 'रहस्' तत्त्व के साथ एकाकार हो जाता है। रहस् के साथ तदात्म होते ही कवि उसके तेज से आविष्ट होकर पतङ्ग (सूर्य) की न्याईं दमकने लगता है और उसकी गति चराचर में उसी प्रकार निर्बाध हो जाती है जैसे कि स्वयं सूर्य भगवान् की। दैवी आवेश का स्नेहभरा धक्का कवि को रभसा रवि रूप में बदल देता है और अब वह अनायास ही उस विश्वसंगीत की तान छेड़ देता है जिसके कारण सूर्य भगवान् का नाम रवि अर्थात् 'शब्द उत्पन्न करने वाला' पड़ा है। रवि शब्द की व्युत्पत्ति रु धातु से है, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है। वेदों के अनुसार भुवनभास्कर 'रवि' वेदत्रयी के जन्मदाता हैं; इड़ा, सरस्वती और भारती के वे आदिस्रोत हैं; और अव्यक्त को व्यक्त रूप देनेवाले स्फोट के वे परम निधान हैं। हमारे पुराणों ने 'रवि' के लयवाही रूप की बार-बार प्रशंसा की है और विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, दांते, शेक्सपीयर एवं गेटे आदि ने कवि को विश्वसंगीत का जन्मदाता कहकर उसकी आरती उतारी है।

रवि-रूप कवि अपनी रभः-प्रसूत वाणी की द्वितीय अवस्था में गन्धर्व का रूप धारण कर लेता है और तब उसकी वाणी वर्णपदादि में व्याकृत होने के लिए अग्रसर होती है। तीसरी दशा में पूर्ण रूप से व्याकृत होकर जब उसकी कूक प्रस्फुटित होती है तब वह अनायास ही विश्व को चलाने वाले ऋत की रागात्मक व्याख्या में व्याकृत हो जाती है।

कवि वाणी की इस प्रक्रिया में अथर्ववेद का ४,३३ वां मंत्र एक नई छटा ला देता है—

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महद्॥

अर्थात् अपूर्व (प्रतिभातत्त्व) के द्वारा प्रेरित हुई कविवाणी जगत् के रहस्यमय रूप को अनावृत करने में समर्थ होती है। वस्तु-तत्त्व के अनावरण में व्याकृत हुई कवि-वाणी का जहाँ पर्यवसान होता है महत् ब्रह्म वही है। कवि की रचना का परम लक्ष्य यह महत् ब्रह्म ही है। मंत्र की पदावलि से स्पष्ट है कि विश्व के रहस्य को वही वाणी व्यक्त कर सकती है जो प्रतिभा के तेज से चमत्कृत हो और जिस में दैवी तवस्तवरा बस गई हो।

कविता के उद्गम एवं उसके लक्ष्य का निर्देश करते हुए ऋग्वेद का १. १६४,४९वां मंत्र सरस्वती से निम्नलिखित प्रार्थना करता है:—

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः॥

अर्थात् हे वाणि ! तुम मुझे अपना वह शिव एवं सौख्यमय, भरपूर स्तन पीने को दो जो अशेष वरणीय पदार्थों का पोषण करनेवाला है, जो रत्नों का दाता, शोभन पदार्थों का प्रापयिता एवं अनायास ही सब कुछ देने वाला है। निःसन्देह वैदिक ऋषियों के अनुसार सरस्वती रसमयी है, और हमारे वेद ने रससारी सरस्वती में लोकोत्तर निद्रा एवं प्रमाद उत्पन्न करने वाले स्तन्य की प्रार्थना करके काव्य के आत्मभूत रस की ओर संकेत किया है जिसका आस्वादन करके कलाकार तो अमर हो ही जाता है, पर साथ ही वह श्रोता एवं प्रेक्षक को भी ब्रह्मानन्द में सराबोर कर देता है।

उक्त मन्त्र से स्पष्ट है कि लयसारी वाणी का आत्मा 'रस' है और इसी के उज्जृम्भण से रससिद्ध कलाकार अपने आप को धन्य करते आए हैं। कवि के आत्मरूप 'रस' का काव्याचार्यों ने सुन्दर विवेचन किया है।

ऋग्वेद का ८ १००. १० वां और ११ वां मन्त्र वाणी के आत्मरूप पयोरस की ओर फिर से संकेत करता है —

> यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
> चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥
> देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
> सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

दोनों मन्त्रों में लयवाही वाणी को धेनु नाम से पुकारा गया है और दोनों ही मन्त्रों में इसे मन्द्रा अर्थात् प्रसादक कह कर उसके पयोरस की लोकोत्तरता को व्यजित किया गया है। लयसारी वाणी के आत्मरूप 'रस' की मन्द्रता एवं प्रसादकता को वेद ने तरह-तरह से गाया है और देवी सरस्वती के स्तन को शशयु (= शयु शी स्वप्ने), शिव (शी स्वप्ने), अथवा मौलिक चितिस्थिति में पहुँचाने वाला बता कर उस के रसास्वाद में ही वाणी का पर्यवसान माना है। आविष्ट वाणी के आत्मरूप रस को दण्डी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:—

> मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः।
> येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ १॥

अर्थात् मधुर रस वाणी और अर्थ दोनों में ही सवलित रूप से निवास करता है—क्योंकि ये दोनों तत्त्व मौलिक रूप से परस्पर अभिन्न हैं। इस रस को पीकर मनीषी लोग भौतिक जगत् से ऊपर उठ उसके मूल में पहुँच जाते और वहां जाकर अमर हो जाते हैं।

ऋग्वेद का ९ ७८ का पहला मन्त्र गोरस की गरिमा पर फिर से संकेत करता है:—

> प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यदद् अपो वसानो अभि गा इयक्षति॥

अर्थात् प्रतिभा के आवेश में चमाचमाता (पतंग) कवि लयसारी स्वर में फूट निकलता है, और तब वह लोकोत्तर क्रियाशीलता को धारण कर के इस वाणी की सेवा में जुट जाता है। कह सकते हैं कि प्रतिभा की अग्नि में गल कर बहने वाला कवि का आत्मा ही वाणी के रूप में फूट निकलता है। आविष्ट रचना के इसी रहस्य को आनन्दवर्धन ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—

> वाक्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
> क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् आविष्ट आत्मा की निभृत पीर ही किसी दृश्य को देख कर जब पक निकलती है तब कविता का उदय होता है। उस दैवी पीर में पियराया कवि अपने आप को भूल जाता, तब वह किसी लोकोत्तर संविधान में जा पहुँचता, और तब जगती के मूलरस के साथ एक होकर बहने वाला उसका आत्मा ही वाणी के माध्यम से वर्णों में बिखरने लगता है। उसकी यह फूट नितांत स्वाभाविक एवं ऋजु होती है और इसीलिये यह अलंकारों की फुलझड़ी में उघड़ती चलती है—क्योंकि आविष्ट कलाकार के अपने ही प्रदीप्त गुण प्रतिभा की सर्चलाइट में झिलमिला उठते और अलंकार बन कर उसके प्रयत्न बिना ही, उसकी रचना में सजने लगते हैं। और जब प्रतिभा-विद्युत् का धक्का लगने पर कवि सामने पड़े विश्व की ओर अग्रसर होता है तब वह उसके कण-कण में अलंकारों का मन्त्र फूँकता चलता है और साथ ही अपनी रचना पर भी अलंकारों के पन्ने जड़ता जाता है। वैदिक रचना के अलंकारों का मूल रचना की इसी प्रक्रिया में संनिहित है।

आविष्ट वाणी के आत्मरूप 'रस' के साथ-साथ वेद ने वाणी के रमणात्मक पक्ष पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। ऋग्वेद का ३. ५५ का ७वां मन्त्र यों है:—

> प्र रण्यानि रण्यवाचो भरन्ते।

अर्थात् रुचिर वाणी वाले ऋत्विक् अथवा कवि रमणीय वस्तु प्रस्तुत करते हैं। और यह बात है भी स्वाभाविक ही—क्योंकि यदि रचना के मूलस्रोत कवि-हृदय में मधु का प्रवाह है तो उसमें से उघड़ने वाले लयसारी वर्णों का भी मधु में सना होना स्वाभाविक है; और मधुसिक्त वाणी वाले भावुकों से मधुसारी रचना ही की आशा की जा सकती है।

काव्यशास्त्रियों के अनुसार रमणीय वाणी का ही दूसरा नाम काव्य है—और यथार्थ काव्य के निर्माता अपनी रचना के माध्यम से अनायास ही विश्व में लावण्यतन्तु फैलाने वाले रमणतत्त्व के साथ तदाकार हो जाते हैं। इसी बात को हम साहित्यिक भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं:—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'।
'वाच्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥'

बात ठीक है—मीठे बोल से क्या नहीं मिल जाता? फिर यदि कवि-रचना में मिठास भर गया तो उसके लिये कौन सी वस्तु दुष्प्राप्य रह जाती है? यह सब कुछ है, किंतु काव्याचार्यों ने वाणी के इसी एक तत्त्व को काव्य का सर्वस्व मान कर उसी में कविता का पर्यवसान कर दिया। सुकरात ने प्रेम की विवेचना करते हुए 'रमणीयता' के माध्यम से उसका 'शाश्वत सौंदर्य तत्त्व' में पर्यवसान किया है और निःसन्देह पारवेधी कवि-रचना का यथार्थ लक्ष्य भी यह सौंदर्य तत्त्व है।

ऋग्वेद के ९.७३ का ७वां मन्त्र वाणी के अलंकरण की अनन्त शक्ति का स्रोत बताता है —

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः॥

मन्त्र सोमपरक है, किंतु कवि रचना पर भी यह सहज ही घट जाता है, क्योंकि पारवेधी कलाकार सहस्र कुल्याओं में प्रवाहित होने वाले पावन, सर्वमार्गी, सोम का गुणगान करके अपनी वाणी को परिपूत करते और उसे नवोढा वधू की न्याईं भांति-भांति के अलङ्कारों से चमत्कृत करते हैं। अलङ्कृत वाणी वाले कवियों की मधुवाही सूक्तियां विश्व के प्रेरक, प्रियदर्शी, जगत् के चितेरे, शोभनगामी रुद्रदेव को भी अपने वश में कर लेती हैं।

संसार को फल देने वाले देवताओं को भी अपने मिठास से मोह लेने वाली कवि-रचना का सुन्दर निरूपण है:—क्योंकि पहुँची हुई कविता है ही वह जो सूर्य भगवान् के समान जगती के कण कण पर छा जाती हो और जिसके पद पद से प्रतिभा की किरणें फूटी पड़ती हों। ऐसी ही पारवेधी आविष्कृत यथार्थ कविता कहा सकती है और ऐसी ही वाणी पवित्र एवं चमत्कृत होने के कारण गायक, श्रोता एवं प्रेक्षक के अन्तरात्मा को आवर्जित करने में सक्षम होती है। विश्व के आर्ष कवि वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, दांते, शेक्सपीयर एवं गेटे की रचनाएं इसी कोटि की हैं।

ऋग्वेद के १०.७१ के दूसरे मन्त्र में वाणी के संस्कार पर बल दिया गया है:—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

अर्थात् जब बुद्धिमान् कवि, जिस प्रकार छाज से अन्न छटा जाता है उस प्रकार अपने मन से वाणी को परिपूत करके उसे रम्य पदावलि के रूप में सजाते हैं, तब मित्र

की प्रसादक लक्ष्मी बिन मांगे उनकी रचना में आ विराजती है। भद्र वाणी वाले गायक का चराचर जगत् के साथ सहज ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता और ऐसा ही कलाकार अपनी आविष्ट लय के द्वारा विश्व के अन्तस्तल को निनादित करने में समर्थ होता है।

पवित्रता एवं अलङ्करण के परम स्रोत शाश्वत तत्त्व को मुखरित करने के लिये वाणी का पवित्र एवं मनोहर होना परमावश्यक है। इसी कारण हमारे वैयाकरणों एवं साहित्य-शास्त्रियों ने वाणी के संस्कार पर इतना अधिक और इतनी बार बल दिया है। वेद तो स्थान-स्थान पर 'द्युमती' वाणी के लिये प्रार्थना करता है। उदाहरण के लिये देखिये:—

दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्। ऋ. वे. १०. ९८. २

अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिषिराम्।
यया वृष्टिं शंतनवे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमां आ विवेश॥ १०. ९८. ३

अर्थात् तेरे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करता हूँ। हे भगवन्! हमारे मुख में प्रकाशमयी वाणी का आधान करो। ओ बृहस्पति! ऐसी वाणी का, जो आधि-व्याधियों से परे हो, जो जगती के कण-कण में कंपन बहा देती हो, जिसकी स्वर-लहरियों से हम शन्तनु के लिये आकाश से बादल बरसा दें। उस प्रकाशमय सोम का मधुमय बिंदु मेरी जिह्वा पर आ विराजा है, मेरा रोम-रोम सोम के मादक रस से भिन्ना उठा है।

अथर्ववेद ६.६९ के द्वितीय मन्त्र ने द्युमती के स्थान पर भर्गस्वती शब्द का प्रयोग किया है—

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचम् आ वदानि जनां अनु॥

ओ अश्विन् देवताओ! ओ सुन्दरता के स्वामियो! मेरे रोम-रोम में मधु भर दो, जिससे मैं जनता के प्रति भ्राजस्वती वाणी का प्रयोग कर सकूं।

निश्चय ही इन मन्त्रों के द्वारा वाणी में मधु एवं अलंकरण उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है—क्योंकि वेद के अनुसार आविष्ट वाणी में रस एवं अलंकरण दोनों ही उचित मात्रा में होने वांछनीय हैं।

वाणी के उक्त अलंकरण से आगे बढ़ कर दूसरी स्टेज भरत मुनि द्वारा संकेतित एवं अग्निपुराणद्वारा प्रपञ्चित अलंकारशास्त्र है। अलंकारों के विषय में दण्डी ने यों कहा है:—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते॥

वेद ने वाणी में चमत्कार डालने वाले अलंकारों का निराला प्रयोग किया है, और उपमाएं तो जैसी वेद ने ढूंढ़ी हैं वैसी अन्यत्र देखने को मिलती ही नहीं। प्रतीत होता है कि वैदिक सूक्त को सुनकर स्वयं उपमालंकार मूर्तिमान् हो उठ बैठा हो। उदाहरण के लिये पढ़िये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६वें सूक्त को—यहां आपको एक से एक बढ़ कर उपमा उघड़ती दीख पड़ेगी। द्यूत सूक्त में जुआरियों के क्षण में ऊंचा और क्षण में नीचा दिखाने वाले पासों को 'कुमारदेष्ण' अर्थात् बच्चों की तरह झट देने और पट छीनने वाले बता कर तो वेद ने उपमा की पराकाष्ठा ही कर दी है। 'शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति' में विरोधाभास की छटा देखते ही बनती है। वेद के किसी भी सूक्त को पढ़ जाइये—उसमें, आपको कोई न कोई अलंकार अपने रुचिर रूप में निभृत बैठा टार्च की न्याईं रचना के शब्द और अर्थ दोनों को भासित करता दीख पड़ेगा। न केवल शब्दालंकार अथवा अर्थालंकार, अपितु दोनों संकलित रूप में वैदिक रचना को एक निराले धरातल पर उठाते दीख पड़ेंगे—और वह भी अपने स्वाभाविक रूप में, प्रशान्त किंतु मुखर दूरगामी, अनजाने ही रचना की कूक-कूक में छिपे बैठे, स्वयं अनदेखे किंतु जगती के कण-कण को दिखा देने वाले हैं।

वेदों के अलंकारविन्यास से मुग्ध होकर काव्याचार्यों ने काव्य का सर्वस्व ही अलंकारों को मानना आरम्भ कर दिया और इन्हीं के भेदोपभेदों की मीमांसा में उन्होंने काव्य-समीक्षा की इति कर दी।

अथर्ववेद का १० ५ ३२वां मन्त्र रहस्यवाद का आदिम संकेत है। मन्त्र यों है —

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥

यह कवि रचना की लोकालोकता का अनूठा निदर्शन है। प्रतिभा विद्युत् की झमाके में आकर ऊपर उठा कलाकार सामने फैली जगती को छोड़ता भी नहीं और वह उसे देखता भी नहीं है। प्रतिभा के ताप में पिघल कर कवि का आत्मा तरल बन जाता, तब वह सामने के विश्व को प्रतिभाग्नि में गला कर उसके स्थान पर एक नवीन छाया-जगत् का निर्माण करता और परमतत्त्व के लिङ्गशरीर के रूप में उसका रस पिया करता है। दैवी उन्मेष का रहस्य कवि की रस खोने में पाने वाली महाशक्ति में सन्निहित है। रस पारवेषी दृष्टि से चुन गए अर्थप्रसून और उन्हें ग्रथित करने वाली कविकृति सचमुच अमर होती है—न वह कभी जीर्ण ही होती और न वह कभी नष्ट ही होती है। क्योंकि अब उसमें निम्नलिखित परम तथ्य का पूरी तरह प्रतिफलन हो गया है कि :—

अमरता है जीवन का ह्रास।
मृत्यु जीवन का चरम विकास। ('यामा' ५८)

और अब वह परिवर्तन के पार शून्य के उस पुलिन पर जा लगी है जहाँ कि सब प्रकार का आदिसूत्र एक गोली के रूप में सिमटा पड़ा रहता है। इस आदिम सूत्र को प्रत्यक्ष करते ही कवि-पदावली की तर्ज बदल जाती और उसका विषय यह स्थूल जगत् न रह कर उसके उर में ज्वार लेने वाला 'कनकरस' बन जाता है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कविरचना का लक्ष्य कवि के सम्मुख फैला हुआ भौतिक जगत् नहीं, अपितु उसके अन्तस्तल में प्रवाहित होने वाला लावण्य परिपूर्ण छाया-जगत् है और उसी का समुचित उत्थापन कवि की आविष्ट रचना का प्रमुख लक्ष्य है।

यह तो हुई स्फोट के उस पक्ष की बात, जिसके अनुसार कि इस शब्द का अर्थ नाद के माध्यम से व्यक्त होने वाला पदार्थजात है, जो कि अपने तरल रूप में कविरचना से ध्वनित होता है। अब लीजिए स्फोट शब्द के उस पक्ष को जिसके अनुसार कि पदार्थजात को व्यक्त करने वाला नाद इसका अर्थ है; इस पक्ष में भी कविता का असली रूप कवि की व्यक्त पदावली नहीं, अपितु इस पदावली के माध्यम से ध्वनित होनेवाली वह मूलभूत परम ध्वनि है, जिसकी झंकृति-मात्र से मूल अव्यक्त चराचर जगत् के वर्तमान रूप में बदल जाता है। उसी आदिम नाद की रचना-कारिणी शक्ति कवि-पदावलि में अवतीर्ण होकर उसे नव-नव छाया-जगत् रचने की शक्ति प्रदान करती है और उसमें वह नवस्त्वरा ला देती है जो कि परमात्मा की अपनी रचना में दृष्टिगत होती है।

समग्र वेद को ध्यान से पढ़ जाइये, उसके पद-पद के पीछे आपको एक निराला सोमिल जगत् उभरता दीख पड़ेगा, एक अनोखी दुनिया दूर से झनझनाती सुन पड़ेगी, जिसका कविरचना की स्फुट पदावलि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु जो कविकूक के तरङ्गित होते ही रमसा श्रोता एवं प्रेक्षक के संमुख आ खड़ी होती है। और यह बात इसलिए है कि वैदिक कवि ने विश्व के भूतजात को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को आत्मसात् कर लिया है और उसके द्वारा बिन्दु में समुद्र को और समुद्र में बिन्दु को एकाकार देख लिया है। तभी तो अथर्ववेद के १०. ८ ३७-३८ में यों कहा है:—

> यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
> सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
> वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
> सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

चराचर में रमे परब्रह्म को वही जानता है जिसने इस विश्वव्यापी सूत्र को देख लिया है, जिसमें जगती के जन्मजात बुने पड़े हैं और जिसने इसमें जान डालनेवाले उस परम सूत्र को साक्षात् कर लिया है जिसके विषय में महादेवी वर्मा ने निम्नलिखित पंक्तियाँ गाई हैं:—

'एक तार अगणित कथन का एक सूत्र सबके बन्धन का।
आदि में छिप जाता अवसान अन्त में बनता नव्य विधान।
सूत्र ही है क्या यह संसार गुथे जिसमें सुख दुःख जय-हार।'

वैदिक कवि कहता है कि मैंने उस सूत्र को देख लिया है जिसमें अशेष जन जनपद अवरुद्ध पड़े हैं, और मैंने इस विस्तृत सूत्रजाल को अनुप्राणित करनेवाले चरम सूत्र को भी देख लिया है। तभी तो मैं कहता हूं कि मैंने परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है।

यथार्थ कवि रचना की इसी व्यापक गहनता को शेक्सपियर ने अपने 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' में यों व्यक्त किया है —

The poet's eye in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth
from earth to heaven.

And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the Smoet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy
nothing

A local habitation and a name (Act 5 1: 20)

काव्यप्रक्रिया का इससे अधिक मार्मिक एवं यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता क्योंकि शेक्सपियर कविता-कामिनी के मर्मी रसिया थे और उनकी चुस्की-चुस्की में चराचर का श्वासोच्छ्वास केन्द्रित रहा करता था। भारतीय आचार्यों का यह कथन—

अपारे काव्यसंसारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

तो शेक्सपीयर के प्रत्यक्ष दर्शन का आभासमात्र है।

हां, तो ऐसा निराला होता है तत्त्वज्ञान में बौराया हुआ एक कलाकार, जिसकी पदावलि कहनी तो कुछ है किंतु आशय जिसका कुछ और ही हुआ करता है। उसकी भाषा उस लोकालोक पर्वत सी बन जाती है जिस पर आलोक और अन्धकार साथ-साथ फैले होते हैं और जहाँ का धरातल कुछ कल्पित-सा, कुछ मरुमरीचियों में उपलब्ध निश्चय-सा एक साथ सरसब्ज़ हुआ करता है।

वेद की समग्र रचना कवित्व की इस पारवेधी शक्ति से उद्भासित है। इसे पढ़कर पाठक के सम्मुख एक ऐसा मंदिर उभर उठता है जो भौतिक होने पर भी भूतातीत है, और जो इसीलिए सचमुच सुन्दर, शिव एवं परम सत्य है।

कविता के ध्वन्य अर्थ को लेकर काव्याचार्यों ने उसी की मीमांसा में अपनी तर्क-शक्ति की इति कर दी, और कवित्व के उस पक्ष की रुचिरता से कांदिशीक हो वे उसके अन्य पक्षों को भुला बैठे।

सुकरात ने प्रेम का विवेचन करते हुए मध्यमार्ग की मनोरम उत्थानिका बाँधी है, जो ग्रीक सफलता की आधारशिला थी और जिसकी ओर श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में और भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक उपदेशों में मार्मिक संकेत किए हैं। सौन्दर्य का मर्म रचना की इसी मध्यमार्गी समञ्जसता में है और यथार्थ सत्य पराकोटियों के मध्य विराजने वाले इसी माध्यमिक समता विन्दु पर टिका हुआ है। जीवन की सुस्थता एवं आर्जव इसी में हैं और सुस्थता एवं ऋजुता ही सौन्दर्य के अपने प्राण हैं।

ऋग्वेद के नवम म॰ के १.९५ सूक्त का दूसरा मन्त्र काव्य के रीति मार्ग पर सुन्दर प्रकाश डालता है :—

हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे॥

मन्त्र मर्मस्पर्शी है। इसमें रीतिमार्ग के सभी घटकों की ओर संकेत आ जाता है। रचना करने वाला कवि-प्रजापति ऋत के मार्ग पर अग्रसर होने वाली स्वर-लहरी का सृजन करता है, ठीक उसी ध्यान एवं कौशल से, जिसके साथ कि एक नाविक नाव चलाया करता है। अपनी रचना के माध्यम से वह परम रहस्य के मर्म को छू लेता और रभसा उसे जगती के सम्मुख अनावृत कर देता है। कितनी मार्मिक एवं मनोरम व्याख्या है यह कवि-रचना के मर्म की और कितने रोचक ढंग से यह कविता के रीति-मार्ग का निदर्शन करती है! क्योंकि संवादी रचना सचमुच है ही वह, जो ऋत के मार्ग पर चलती हुई विश्व के स्थायी संविधान का व्याख्यान करती हो और उसके द्वारा दैवी रहस्य का रागात्मक मुखरण करती हो—क्योंकि सचमुच ऋत के विश्वव्यापी सितार पर निनादित होकर ही रचना के अक्षर-अक्षर तत्त्व को व्याकृत करने में सफल हो पाते हैं। वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित् समिनक्षन्त आशतात्रा कर्तमवपदात्यप्रभुः॥ ऋ॰ वे॰ ९. ७३. ९

अर्थात् ऋत का दैवी तन्तु वरुण की गुप्त शक्ति द्वारा जिह्वा के अग्रभाग की चलनी पर टिका हुआ है। मेधावी कवि उस तक पहुँच कर उसे आत्मसात् कर लेते हैं; इसके विपरीत वे अल्पज्ञ जो इसे प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, आजीवन नीचे ही पड़े रह जाते हैं।

रहस्य से उद्भावित हुई कवि रचना का कितना मार्मिक निदर्शन है ? विश्वव्यापी परमात्मा के प्रसाद से ही कवि की प्रतिभा जागती है और इसी के वर से उसकी वाणी ऋत के दुर्लभ तन्तु का विश्लेषण करने में समर्थ हो पाती है। मेधावी लोग प्रयत्न करके रहस्य के परम मूल को देख लेते हैं और इसी की वेदना में वे अपनी वाणी का पर्यवसान किया करते हैं।

हां, तो वेद के अनुसार स्पष्ट है कि ऋत के मार्ग पर चलने वाली कवि रचना ही ऋतरूप सत्य के व्याख्यान में समर्थ हो पाती है—और कविरचना की यही सरणि वेद को वांछनीय रही है। किंतु काव्यशास्त्रियों ने अतिशय के फेर में पड़ कर वाणी की गति को ही रचना का सर्वस्व मानना आरम्भ कर दिया। और इसके विश्लेषण में उलझ कर वे रचना के आत्मा 'रस' तक भूल बैठे। किंतु वेद स्पष्ट कहता है —

पुनानो वाचं जनयन्न सिष्यदत्। ऋ. वे ९ । ०६ । १२

अर्थात् विश्व का प्रेरक वह परम सोम तत्त्व वाणी को अलंकृत करता हुआ रस रूप में बहा करता है। मन्त्र के इस एक खण्ड में कविता के 'अलंकरण' एवं 'रस' ये दोनों घटक आ जाते हैं। और जब हम इस मन्त्र-खंड को उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रों के साथ मिला कर पढ़ते हैं तब हमें काव्य के ध्वनि और रीति ये दोनों पक्ष भी हस्तगत हो जाते हैं। किंतु वेद ने सब जगह 'ऋतसारी' वाणी ही की सपर्या की है। यहाँ तक कि उसने वाणी का नाम ही सूनृता (=सु+ऋता) और ऋतम्भरा आदि रख दिया है। इस ऋत के वातावरण में ही वैदिक ऋषि सचेष्ट रहते आए हैं। ऋग्वेद कहता है —

स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यत तन्तुं तन्वानस्त्रिवृतं यथा विदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसीः पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम्॥ ऋ.वे ९ ८६ ३२

पारवेधी कलाकार तत्त्वज्ञान के लिए सत्ता के परम तन्तु का आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिक इन तीन रूपों में विश्लेषण करता हुआ प्रतिभा-सूर्य की किरणों से झिलमिला उठता है और तब ऋत की नव-नव प्रशास्तियों में फूलता हुआ कामनाओं का कमनीय वह परम तत्त्व को पा लेता है।

स्पष्ट शब्दों में यह मन्त्र कवि के पारवेधी तृतीय नेत्र की ओर संकेत करता हुआ उसके सूर्यसम भास्वमान रचना निवेश की गरिमा का वर्णन करता है और बताता है कि ऋत के रागात्मक व्याख्यान में ही कलाकार के रागात्मक जीवन की सफलता सन्निहित है।

निश्चय ही इन मन्त्रों के अनुसार कवि-रचना का असल लक्ष्य ऋतरूप परम तत्त्व की रागात्मक व्याख्या करना है और इसी के चमत्कृत अनुसरण में इन मन्त्रों ने सच्ची कविता का पर्यवसान माना है। जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर उसी में रम जाने

वाले कलाकार को ऋत का दर्शन अलभ्य है—क्योंकि ऐसे कलाकार में विस्तार एवं संयम का विकास नहीं हो पाता और हमारे मंत्रद्रष्टाओं ने इन दोनों के उचित विकास को परिपूर्ण जीवन स्वीकार किया है। क्योंकि जीवन में यदि विस्तार का होना आवश्यक है तो उसी मात्रा में उसमें संकोच का होना भी वांछनीय है। मनोवृत्ति के इसी संयम को हम 'समाधि' कहते हैं। इसमें वैखरी चित्तवृत्ति का सम्यक् सन्निधान हो जाता है और इस समाहित चित्तवृत्ति के द्वारा ऋत का प्रत्यक्ष दर्शन संभव हो जाता है; क्योंकि मनोवृत्ति की इस समाधि में जीवन के समग्र पहलू सामंजस्य के साथ एक दूसरे से संवलित होकर अखण्ड रस के उस प्ररोचन एवं प्रस्पन्दन को जन्म देते हैं जिनका उत्पन्न करना काव्यकला का परम लक्ष्य है। जीवन एवं कला का यह समंजस विकास ही ऋषियों की दृष्टि में कला का परम लक्ष्य रहता आया है और इसी के उन्नयन में उन्होंने अपनी वाणी को सफल बनाया है।

'उचित' शब्द की व्युत्पत्ति उच् धातु से है, जिसका अर्थ कि 'प्रसन्न होना' एवं 'प्रसन्न करना' है। इसी उच् धातु से ओकस् शब्द बना है जिसका अर्थ घर है; क्योंकि घर सदा सब को समान रूप से प्यारा होता है। अंग्रेजी की 'Home sweet home इस कहावत का मर्म यही है।

उचित के भाव को 'औचित्य' कहते हैं; और जिस प्रकार 'त्रिवृत्' जीवन की सफलता औचित्य पर निर्भर है उसी प्रकार त्रिवृत् जीवन का रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना का सौंदर्य भी औचित्य पर निर्भर है। औचित्य के इसी व्यापक मर्म का निदर्शन अथर्ववेद के ३. ३० में इस प्रकार आता है:—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥
येन देवा न वि यन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
सध्रीचीनान् व संमनसस्कृणोमि एकश्नुष्टीन् संवननेन सर्वान्।

देवा स्वामृत रक्षमाणा सावधानः सौमनसो वो अस्तु ॥

विश्व के अणु-अणु को क्रियासूत्र में सवलित करके जीवनपथ पर अग्रसर करने वाले औचित्य तत्त्व का अवबोध कराने के लिए वेद ने बार बार स, सह, एवं सम् शब्द का प्रयोग किया है और इसके द्वारा इस तथ्य पर बल दिया है कि मानव-जीवन को वननीय एवं सवादी बनाने वाला तत्त्व औचित्य ही है।

और यदि जीवन में सवदन उत्पन्न करने का श्रेय औचित्य को है तो निश्चय ही उसका रागात्मक व्याख्यान करने वाली कवि-रचना को सफल बनाने का काम भी औचित्य ही का है, तभी तो दण्डी ने कहा है :—

> अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
> सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥
> तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
> कविसार्थः समग्रोऽपि तमेकमुपजीवति ॥

'समाधि' शब्द से यहाँ हम औचित्य ही की ओर दण्डी का सकेत समझते हैं और औचित्याधान की दृष्टि से ही इन पंक्तियों की व्याख्या करते हैं। आनन्दवर्धन ने औचित्य को 'रस' की परा उपनिषद् बनाया है :—

> अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥
> एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
> सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥
> रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
> रचनाविषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ॥

अर्थात् कवि-रचना के आत्मारूप 'रस' के प्रवाह में यदि कोई वस्तु रोड़ा अटकाती है तो वह है 'अनौचित्य', रस का स्वारसिक प्रवाह तो औचित्य पर ही अवलंबित है। क्या पद्य और क्या गद्य सभी प्रकार की कवि-रचना का प्राण औचित्य है—इसी के उचित सनिवेश में कवि-रचना की सफलता सनिहित है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी औचित्य की अपनी औचित्यविचारचर्चा में रस-जीवित के रूप में स्थापना की है। ग्रन्थ के आरम्भ में वे कहते हैं :—

> औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
> रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥

अर्थात् रचना में चमत्कार उत्पन्न करने वाले, कविकृति के स्वादिष्ट चर्वण में रस के जीवन रूप औचित्य पर अब हम विचार करते हैं। क्षेमेन्द्र के उक्त कथन से व्यक्त है

कि उनके अनुसार काव्य में चमत्कार की उत्पत्ति औचित्य से होती है और कविता के प्रगाढ आस्वादन में द्रवित होने वाले रस का प्राण भी औचित्य ही है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कविता श्रोता एवं प्रेक्षक के आत्मा को तभी द्रवित करती है जब कि उसके अंग-प्रत्यंग औचित्य के द्वारा परस्परसंवादी संपन्न हुए हों और औचित्य के माध्यम से वह सर्वात्मना आत्मा के साथ एकाकार बन गई हो। कह सकते हैं कि औचित्य ही काव्य के विभिन्न तन्तुओं का संवलक है और उसी से उनमें सौंदर्योद्बोधन की क्षमता आती है। जीवन में रसास्राव औचित्य ही से होता है और उसी से चमत्कृत हुई वाणी श्रोता एवं प्रेक्षक को ब्रह्मरस का आस्वादन कराने में समर्थ होती है। औचित्य के महत्त्व को आगे चल कर क्षेमेन्द्र इन शब्दों में व्यक्त करते हैं:—

काव्यस्यालमलंकारैः किं मिथ्याकथितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् अलंकार तो अलंकार ही हैं और गुण गुण ही हैं। किंतु सच पूछो तो रस में पके काव्य का रहस्य उसके सर्वावयवसारी औचित्य में संनिहित है। क्षेमेन्द्र के अनुसार अलंकार, गुण और रस उत्कृष्ट रचना के लिए सभी आवश्यक हैं, किंतु इन सब में चमत्कार तभी खिलता है जबकि इन सब में व्यष्टि एवं समष्टि दोनों प्रकार से औचित्य विद्यमान हो।

पहले कह चुके हैं कि उचित शब्द की व्युत्पत्ति प्रसादार्थक उच् धातु से हुई है; फलतः उचित शब्द का मौलिक अर्थ मन्द्र, रमणीय, एवं प्रसादकारी है। मन्द्र एवं प्रसादकारी वस्तु ही उचित अर्थात् समंजस, संवादी, ऋजु, एवं शिव होती है। काव्याचार्यों ने 'उचित' शब्द के इस मौलिक अर्थ पर ध्यान न दे उसके एक अर्थ अर्थात् 'समंजसता' में ही उसका पर्यवसान कर दिया है। फल इसका यह हुआ कि औचित्य शब्द अपने मौलिक व्यापक अर्थ से च्युत होकर अपने प्रचलित अर्थ में चल पड़ा और इस कारण समालोचकों ने उस पर संकुचित टीका-टिप्पणी आरम्भ कर दी।

किंतु जब हम 'उचित' शब्द के मौलिक अर्थ 'मन्द्रता' पर ध्यान देते हैं तब अपने मौलिक एवं विकसित दोनों अर्थों को अपने भीतर समाहित करके क्षेमेन्द्र का औचित्य

तत्त्व काव्यसिद्धान्त के सार में निख उठता और रचना सौन्दर्य का सर्वांगपूर्ण लक्षण बन जाता है।

यह हुआ यथार्थ औचित्य तत्त्व। यह जिस प्रकार चराचर को चलाने वाले ऋत तत्त्व से अभिन्न है उसी प्रकार ऋतसारी कवि रचना का भी यह जीवित सूत्र है।

२

आइये अब जरा औचित्य की प्रचलित मीमांसा का दिग्दर्शन कर लें। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र की निम्न कारिका उद्धृत की जा चुकी है—

> उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
> उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ औ० ७

अर्थात् जो वस्तु जिसके अनुरूप है उसे हम उस वस्तु के लिए उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है। हम जानते हैं कि सब वस्तुओं का सभी के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। किसी वस्तु का किसी वस्तु विशेष के साथ सम्बन्ध ही उचित हुआ करता है। उदाहरण के लिए मोतियों का हार गले में फबता है और नूपुर पैरों में। फलतः मौक्तिक हार गले के और नूपुर पैरों के लिये उचित है। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस के साथ माधुर्य गुण एवं वीर और रौद्र रस के साथ ओज गुण ठीक बैठता है। दो वस्तुओं के इस सम्बन्ध अथवा सामञ्जस्य को हम औचित्य कहते हैं।

पहले कह चुके हैं कि औचित्य को काव्य सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठापित करने का सेहरा आचार्य क्षेमेन्द्र को है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती विचारकों का इस ओर ध्यान नहीं गया था। क्षेमेन्द्र से पहले भी भरत और आनन्दवर्धन औचित्य पर विचार कर चुके थे। भरत ने औचित्य की नाट्य में प्रतिष्ठा की थी और आनन्द वर्धन ने उसकी नाट्य एवं काव्य दोनों ही क्षेत्रों में अवतारणा की थी। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य को पूरे काव्यजगत् में उसके उचित आसन पर बिठा कर उसकी एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्राणप्रतिष्ठा की है।

भरत के अनुसार अभिनय का लक्ष्य प्रेक्षक के हृदय में रस संचार करना है। इसी उद्देश्य से नाटक का सारा क्रियाकलाप रसोन्मेष की ओर अग्रसर होता है। अभिनय, छन्द, अलङ्कार एवं स्वर आदि नाट्य की सभी कड़ियों का प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षक के हृदय में रस का स्रोत बहा देना है। भरत ने रस को काव्य का आधार मान कर ही गुण दोष का विवेचन किया है। उनके अनुसार रस के अनुरूप होना ही गुण और

उसके प्रतिकूल होना ही दोष है। गुण रसोद्रेक में सहायक और दोष रस के विघातक होते हैं। पात्रों के वेष की देशकालानुकूलता पर बल देते हुए भरत कहते हैं:—

अदेशजो वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

अर्थात् यदि पात्रों का वेष देशकाल के विपरीत हुआ तो वे प्रेक्षकों के उपहास के पात्र बन जाएंगे। क्योंकि गले में तगड़ी और हाथ में नूपुर डालना मूर्खता के सिवाय और क्या है?

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य सिद्धान्त को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय काम किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने औचित्य का विवेचन काव्य के प्रकीर्ण अंगों के संबंध में किया था; पर आनन्दवर्धन ने काव्य के आत्मभूत रस के साथ भी औचित्य का घनिष्ठ संबंध उद्बोधित करके औचित्य को सिद्धान्त के रूप में काव्य के व्यापक जगत् में अवतीर्ण किया। आनन्दवर्धन रस या रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस के परिपाक में सबसे अधिक आवश्यक 'औचित्य' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वस्तु एवं अलंकार रस के बाह्य उपकरण हैं—इसलिए रस की अपेक्षा ये दोनों गौण हैं। काव्य में इन दोनों का प्रयोग रसोत्थापन के लिये किया जाता है। इसी मान्यता के साथ आनन्दवर्धन ने वस्तु-औचित्य एवं अलंकारौचित्य की अपने ग्रन्थ में चर्चा की है। काव्य में वस्तु एवं अलंकार का अपना स्वतंत्र मूल्य नहीं होता। अलंकार्य रस के चमत्करण पर ही इनकी सजीवता निर्भर है। आनन्दवर्धन कहते हैं:—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥ (ध्वन्यालोक)

वस्तु एवं अलंकारौचित्य के साथ-साथ आनन्दवर्धन ने 'रसौचित्य' की मीमांसा भी बड़े मार्मिक ढंग से की है; और इस बात को स्वीकार किया है कि रसौचित्य के विघात से रसदोष खड़े हो जाते हैं, जो कि सामान्य कोटि के दोष न होकर प्रधान कोटि के दोष गिने जाते हैं। आनन्दवर्धन के अनुसार रस का सबसे अधिक गहरा रहस्य 'औचित्य' है और उसका सबसे बड़ा विघातक है अनौचित्य। इसीलिये उत्तम काव्य के लिये यह आवश्यक है कि उसका अंग-अंग औचित्य के सांचे में गढ़ा गया हो। रसौचित्य की प्रधानता पर बल देते हुए भी आनन्दवर्धन ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि वाच्य एवं वाचक की औचित्यसंवादी योजना सारस्वत कवि का प्रधान लक्षण है:—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः॥

ऊपर कह चुके हैं कि काव्य जगत् में औचित्य का आदर प्राचीन काल से है, किंतु यह बात निर्विवाद है कि औचित्य को काव्य का सुव्यवस्थित व्यापी सिद्धान्त क्षेमेन्द्र ने बनाया है। उनके अनुसार काव्य के अंग पद, काव्य, गुण एवं रसादि सबके सब औचित्य मे संवलित होकर ही सजीव बनते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्य के सब अंगों में प्राण फूकने वाला औचित्य ही है। औचित्य की इसी व्यापक मान्यता के कारण क्षेमेन्द्र ने उसका काव्य के २४ अंगों के साथ संबंध दिखाया है।

एक समय था जब कि आलंकारिकों ने औचित्य को निरपेक्ष रूप से काव्य का जीवित माना था पर आचार्य अभिनव गुप्त ने इस मन्तव्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार रस एवं व्यंजना से संवलित हुए बिना औचित्य के यथार्थ रूप को पहचानने का प्रयत्न औचित्य की विडंबना करना है। फलतः आचार्य अभिनव एवं आनन्दवर्धन ने औचित्यसंवलित रसध्वनि को काव्य का आत्मा माना है। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम इन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। आचार्य अभिनव का सिद्धान्त है कि काव्य का मूल तत्त्व 'रस' है, फलतः 'रस' को उसका उच्च आसन दिये बिना औचित्य की चर्चा अप्रासंगिक है, क्योंकि औचित्य का असली रूप तभी उघड़ता है जब कि जिसके विषय में औचित्य को स्थापित किया जाय वह वस्तु अपनी जगह अपने असली रूप में विद्यमान हो। काव्यजगत् में वह वस्तु काव्य का आत्मा रस है। इसके बिना औचित्य की चर्चा विडम्बना मात्र है। जैसा कि कहा है —

औचित्यवती जीवनमिति चेत् औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति।

आचार्य अभिनव ने साफ शब्दों में औचित्य-संवलित रस को काव्य का आत्मा स्वीकार किया है। किंतु आचार्य क्षेमेन्द्र ने उनसे कुछ आगे बढ़ कर औचित्य ही को काव्य का जीवन स्थापित किया है। अपनी औचित्यविचारचर्चा के प्रारंभ में क्षेमेन्द्र कहते हैं —

> औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
> रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
> अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
> औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

अर्थात् औचित्य ही काव्य में मनोज्ञता उत्पन्न करता और वही रसचर्वण में रस की असली जान है। अलंकार अलंकार ही है और गुण गुण ही। किंतु औचित्य तो रस में पके काव्य का स्थायी जीवित है। निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की सिद्धि अर्थात् उसका पर्यवसान रस में होता है, और रस की जान औचित्य में है। इस प्रकार रस

और औचित्य दोनों तत्त्व एक दूसरे के परिपोषक हैं। निम्न उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :—

रसेन शृङ्गारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवद् रससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः। औचित्यं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनास्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात्॥ औ०

क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य-विचार-चर्चा में काव्य के निम्नलिखित अंगों में औचित्य-विन्यास आवश्यक बताया है :—

पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, वृत्त, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, और आशीर्वाद।

यहां इन सब अंगों के औचित्य पर विचार करना अनुचित होगा; अलबत्ता प्रधान अंगों के औचित्य पर विहंगम दृष्टि डाल देनी आवश्यक है।

गुणौचित्य—

ओज, माधुर्य, प्रसादादि गुण काव्य की शोभा को तभी बढ़ाते हैं जब उनका प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयोग हुआ हो। इसीलिये आलंकारिकों ने रस-विशेष के लिये गुणविशेष का उन्नयन ही उचित बताया है। उदाहरण के लिये यदि काव्य का वक्ता वीर है तो उसकी उक्ति में ओज गुण फबता है। और यदि काव्य में शृङ्गार रस की अभिव्यंजना अपेक्षित है तो प्रसंग में कवि को माधुर्य गुण का उन्मेष करना उचित है।

अलङ्कारौचित्य—

जिस प्रकार उचित अंग पर उचित रूप से सजाये गए आभूषण कामिनी को चार चांद लगा देते हैं उसी प्रकार काव्य में उचित स्थान पर उचित रूप से प्रयुक्त हुए अलंकार उसमें जान डाल देते हैं। अलंकारों का उचित प्रयोग तभी संभव है जबकि वे प्रकृत वस्तु के अनुरूप जड़े हुए हों। क्षेमेन्द्र के शब्दों में प्रकृत अर्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए अलंकारों से कवि-रचना उसी प्रकार खिल उठती है जैसे कि कामिनी के पीन स्तन पर लहराते हार से उसकी शोभा शतगुण हो जाती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :—

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा॥ औ०

सच पूछो तो अलंकार की अलंकारता इसी बात में है कि वह प्रकृत अर्थ का उन्नायक हो। नीरस काव्य पर अलंकारों के पन्ने बेजान साबित होते हैं,—उन्हें देख रसिकों का

हृदय अंकुरित नहीं होता। इसी कारण अलंकारिकों ने अलंकारों से चमत्कृत किंतु रसविहीन कविता को अधम कोटि की माना है।

रसौचित्य—

रसवादियों के अनुसार काव्य की आत्मा रस है। यह सिद्धांत युक्तियुक्त है। किंतु यह बात भी युक्तिसंगत है कि औचित्य से संवलित होकर ही रस काव्य का आत्मा बनता है और औचित्यसंवादी रचना ही श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय को आवर्जित करती है। क्षेमेन्द्र कहते हैं :—

कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः॥
यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यान्ति शृङ्गाराद्यास्तथा मिथः॥
तेषां परस्पराश्लेषात् कुर्यादौचित्यरक्षणम्।
अनौचित्येन संसृष्टः करोत्येष रससंकरः॥

अर्थात् जिस प्रकार मधुमास की संगति में अशोक अंकुरित हो उठता है उसी प्रकार औचित्य से संवलित होकर रस श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में दैवी पीर पैदा कर देता है। जिस प्रकार कुशल सूद के द्वारा संवलित हुए षट्‌रसों का भोजन भोक्ता को विचित्र आनन्द देता है उसी प्रकार परस्पर सश्लिष्ट हुए विविध रस श्रोता एवं प्रेक्षक की मनकली को चटका देते हैं। इसलिये रसों के संचार में औचित्य पर ध्यान देना आवश्यक है। रससंकर के औचित्य का उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र ने व्यास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किंतु मत्तांगनापांगभङ्गिलोलं हि जीवितम्॥

उक्त पद्य में शृङ्गार एवं शान्त रस का संकर उचित प्रतीत हुआ है। शृङ्गार रस के औचित्य पर क्षेमेन्द्र ने कालिदास का निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥

इस पद्य के लिखने का आशय यही है कि कालिदास शंकर के हृदय में पार्वती के प्रति अभिलाषरूप शृङ्गार उत्पन्न करना चाहते हैं। इस अभिप्राय को सामने रखकर ही उन्होंने वसन्त के नखों से क्षत होकर लाल हुई वनस्थली का वर्णन किया है। वसन्त का यह संयोग शृङ्गार प्रकृत अर्थ के लिए नितांत सहायी है। शंकर के हृदय में पार्वती

के प्रति शृङ्गारिक अभिलाषा उत्पन्न करने के निमित्त वह उपयुक्त उद्दीपन का कार्य कर रहा है।

यहां तक हमने भारतीय काव्यशास्त्रों में औचित्य की गरिमा दिखाई है। औचित्य की यह महत्ता भारतीय काव्यशास्त्र में ही नहीं, अपितु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी समान रूप से स्वीकार की गई है। प्राचीन काल से ही पाश्चात्य आलोचक औचित्य को काव्य-समीक्षा में महत्त्व देते आए हैं। किंतु इन लोगों ने औचित्य को काव्य के बहिरंग तक ही सीमित रखा है। जहां एक ओर हमारे यहां औचित्य को काव्य का अन्तस्तत्त्व माना गया है वहां पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में इसे बाह्य सौन्दर्य का उपकरण बताया गया है।

पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति के प्रवर्तक अरस्तू ने अपने पोयटिक्स एवं रेटोरिक्स नामक ग्रन्थों में औचित्य की मार्मिक मीमांसा की है। काव्य में भाषा के औचित्य पर विचार करते हुए अरस्तू कहते हैं कि रचना में भाषा का प्रयोग विषयानुसार होना चाहिए। सुकुमार विषय का वर्णन कठोर भाषा में एवं उग्र विषय का वर्णन सुकुमार शब्दों में किया जाय तो रचना का प्रभाव बिगड़ जायगा। अपनी रेटोरिक्स में अरस्तू कहते हैं :—

It is a general result of these considerations that if a tender subject is expressed in harsh languase or a harsh subject in tender language, there is a certain loss of peruasiveness.

अरस्तू के बाद अन्य आलोचकों ने भी औचित्य पर पर्याप्त विचार किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार इन शब्दों में कर सकते हैं। भारत में वाणी की पूजा वैदिक काल से चली आ रही है और भारत के विचारकों ने वाणी के परिष्कार को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। वेदों ने अलंकृत भाषा का प्रयोग करके भावी विचारकों को अलंकार शास्त्र का मार्ग दिखाया है, जिन्होंने परिष्कार के एक एक पक्ष को लेकर अपने अपने पृथक् सिद्धान्त स्थापित किए और उन्हें आगे बढ़ाया। प्रचलित काव्यशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि-रचना का प्रमुख लक्ष्य श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय में चमत्कृत रस का स्रोत बहाना है, एक अनोखी, दिल से रिसने वाली 'पीर' पैदा करनी है, जिसके आवेश में भौतिक जगत् तरल बनकर एक नवेले छाया-जगत् में बदल जाता और उसके कण-कण से ऐसा रस रिसने लग जाता है जो श्रोता एवं प्रेक्षक की 'पीर' के साथ तदात्म होने के कारण उसे 'शून्य के उस पुलिन पर पहुंचा देता है जहाँ सत् और असत् दोनों एक हो जाते हैं, जहां जीवन और मृत्यु समान रूप से आनन्ददायक बन जाते हैं। हमारे आचार्यों ने चमत्कार-संवलित शब्द और अर्थ के समवाय को साहित्य माना है और काव्यगत चमत्कार को विभिन्न आलंकारिकों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। आनन्दवर्धन इसे ध्वनि कहते हैं जब कि कुन्तक इसे वक्रोक्ति,

अभिनव गुप्त वैचित्र्य और क्षेमेन्द्र इसे औचित्य सज्ञा देते हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना निराला स्थान है—किंतु औचित्य शब्द की निष्पत्ति प्रमादार्थक उच् धातु से होने के कारण इसका अर्थ अत्यन्त व्यापक है और इसमें रचना को चमत्कृत करने के वे सभी उपकरण आ जाते हैं, जो श्रोता एवं प्रेक्षक के हृदय को अकुरित करते और जीवन के लिए क्षेमकारी होते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्यविचारचर्चा नामक रचना में औचित्य का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

भारत में ऐसे भी मीमांसक हो गुजरे हैं जिन्होंने औचित्य की रसादि से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे ही काव्य-तत्त्व का श्रेष्ठ आसन प्रदान किया है। पर आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मन्तव्य से असहमति प्रकट करते हुए औचित्य को एक सबध विशेष बताया है और इसी रूप में उसे काव्य के आत्मभूत रस का परिपोषक स्थापित किया है। किंतु क्षेमेन्द्र ने काव्य, रस और औचित्य के त्रिभुज पर सरस्वती की वदना की है और उनकी दृष्टि में काव्य की सिद्धि रस में होती है और रस का जीवित औचित्य में है। क्षेमेन्द्र के निम्नलिखित श्लोकों का आशय यही है—

> 'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
> रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥'
> 'औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥'

सूर्यकान्त

* श्रीनृसिंहाय नमः *

नृसिंहचम्पूः

अथ प्रथमोच्छ्वासः

आनन्दं स दधातु धातुरपि यो धाता यदङ्घ्रिस्रवद्-
दिव्याम्भः सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटावतंसायते।
भूयो दानवभारभङ्गुरधरोद्धारैकधीरः स्वयं
लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो वैकुण्ठकण्ठीरवः ॥ १ ॥

यस्माद् ध्रुवोऽजनि सुदुर्लभरत्नमेतत् प्रह्लादरूपमपरं च भवेन्नु तत्र।
योऽन्वेषयन्निति ददार सुरारिवक्षस्तस्मै नमो नृहरयेऽद्भुतविक्रमाय ॥ १ ॥

अशेषविद्वज्जनसंमतं यत् पवित्रितं सच्चरितैर्मुनीनाम्।
श्रीकाशिनाथस्य पदारविन्दं श्रीशुद्धबोधस्य च भावयामि ॥
ईशानुरक्तस्य सतां मतस्य श्रीभिक्षुवर्यस्य पितुः स्मरामि।
आत्मानमानन्दयितुं जनन्याः रमाभिधायाश्चरणौ वहामि ॥
सूर्याभिधो नवरसां कविचक्रवर्ती चम्पूं चकार नृहरेश्चरितैः पवित्राम्।
श्रीसूर्यकान्तविबुधोऽथ नृसिंहभक्तो व्याख्यात्यपेक्षितपदैर्गुणिनां हिताय ॥

आनन्दमिति—यः धातुः ब्रह्मणः अपि धाता विधाता 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेः; यः ब्रह्मणोऽपि निर्मातेत्यर्थः। यदङ्घ्रिस्रवद्दिव्याम्भः यस्य च अङ्घ्रिभ्यां चरणाभ्यां 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। स्रवत् क्षरत् दिव्यं स्वर्ग्यम् अम्भो जलं गाङ्गं वारीत्यर्थः। सुरधुर्यधूर्जटिजटाजूटावतंसायते सुराणां देवानां धुर्यस्य नेतुः धूर्जटेः शिवस्य जटाजूटस्य कपर्दस्य 'कपर्दोऽस्य जटाजूट' इत्यमरः। अवतंसायते भूषणमिवाचरति। यो दानवभारभङ्गुरोद्धारैकधीरः यश्च स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य जगतो भूयः स वैकुण्ठकण्ठीरवः आनन्दं दधातु इति योजना। यश्च स्वयं दानवभारभङ्गुरोद्धारैकधीरः दानवानां दनुजानां भारेण भङ्गुरायाः भञ्जनशीलायाः वक्राया वा धरायाः सर्वसहायाः उद्धारे उद्धरणे

एकवीरः एकमात्र वीरः वर्तते इति शेषः । यश्च स्वयं लीलावैभवनिर्मितस्य लीलायाः क्रीडाया वैभवेन सामर्थ्येन निर्मितस्य सृष्टस्य जगतः भूर्भुवः स्वराख्यस्य लोकत्रयस्य भूपः नृपः । स वैकुण्ठकण्ठीरवः वैकुण्ठलोकस्य कण्ठीरव इति षष्ठीतत्पुरुषः । वैकुण्ठो विष्णुरेव कण्ठीरवः सिंहः पालकः इति कर्मधारयो वा । सोऽसौ नृसिंहाख्यो हरिः आनन्दम् ऐहलौकिकं पारलौकिकं च सुखं दधातु बिभर्तु पोषयतु इत्यर्थः ।

भङ्गुर इत्यत्र 'भञ्जभास' इति घुरच् प्रत्ययः । एकवीर इत्यत्र 'पूर्वकालैक' इति समासः । वैकुण्ठ इति विगता कुण्ठा नाशो यस्य स विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः । प्रज्ञादित्वादण् । अथवा विकुण्ठम् विविधा कुण्ठा माया विद्यते यस्य सः ॥ १ ॥

अनुवाद—विष्णुलोक का वह दिव्य मृगराज ऐहिक एवं पारलौकिक आनन्द को बढ़ावे, जिसके चरणों से निकलने वाली लोकोत्तर जलधारा सुरशिरोमणि नटराज के जटाजूट को विभूषित करती है, जो ब्रह्मा का भी निर्माण करने वाला है, जो अपने लीला वैभव से निर्मित सृष्टि का शासक है, [इतना ही नहीं, बल्कि] दानवों के भार से पीड़ित वसुधा के उद्धार में जो एक मात्र वीर है ॥ १ ॥

विमर्श—भारतीय परम्परा में भारती के उपासकजन सदाचार को प्रमाण मानते हुए प्रकरण के आरम्भ में सदैव माङ्गलिक श्लोक या श्लोकों का उपन्यास करते आए हैं । उनकी यह धारणा रही है कि किसी भी ग्रन्थ के सम्बन्ध में तीन प्रकार के प्रतिबन्धक हो सकते हैं—समाप्तिप्रतिबन्धक, प्रचारप्रतिबन्धक एवं यशःप्रतिबन्धक । मङ्गल इन तीनों प्रकार के प्रतिबन्धकों का निरासक होता है, अतः भावी सन्तति भी इस परम्परा का पालन करे—यही सोचकर हमारे पूर्वज मङ्गल को लिपिबद्ध कर देना आवश्यक समझते रहे हैं ।

यह मङ्गल भी तीन प्रकार का होता है—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक, एवं वस्तुनिर्देशात्मक । प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने आशीर्वादात्मक मङ्गल का विन्यास किया है । इसके पहले कि हम उस माङ्गलिक श्लोक का अर्थ करें, चम्पू काव्य का स्वरूप बता देना आवश्यक समझते हैं । साहित्यदर्पणकार महापात्र विश्वनाथ ने चम्पू का लक्षण लिखा है—

'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते'

अर्थात् चम्पू वह काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों का मिश्रण हो । यद्यपि गद्य एवं पद्य का मिश्रण 'रूपक' में भी दिखलाई पड़ता है, तथापि दोनों का स्पष्ट अन्तर यह है कि रूपक दृश्य काव्य है और चम्पू श्रव्य काव्य । हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण कथाकाव्य में गद्य एवं पद्य का मिश्रण रहता है और वह भी श्रव्य काव्य ही है, फिर उक्त लक्षण की व्याप्ति तो नहीं हो रही ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि चम्पू 'गद्यपद्यमय' है और कथा-काव्य उससे भिन्न । आचार्य [illegible] निश्चित ही

लगेगी। असल में ध्यान देने की वस्तु है—'मयट्' प्रत्यय। यहाँ यह 'प्राचुर्यार्थक' है। रहस्य यह हुआ कि चम्पू में गद्य एवं पद्य-दोनों का प्राचुर्य होता है, पर कथा-काव्य में गद्य की ही प्रधानता रहती है, पद्य तो क्वचित् ही होता है। कथा-लक्ष्ण में स्पष्ट ही कहा है—

'क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके'

इस उद्धरण में 'क्वचित्' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट सूचित होता है गद्य पद्य का मिश्रण उभयत्र होने पर भी दोनों में भेद है। इस प्रकार चम्पू का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ—

'चम्पू वह श्रव्य काव्य है, जिसमें गद्य एवं पद्य का प्रचुर मिश्रण हो'

अलंकारः—(१) 'दधातु धातु २' में यमक तथा छेक का सांकर्य है।

(२) 'दधातु धातुरपि यो धाता'—यहाँ ('धृत्') अनेक वर्ण की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास भी हो सकता है।

(३) 'जटि जटा जूट' में भी अनेक वर्ण (ज् ट्) की असकृत् आवृत्ति है, अतः वृत्त्यनुप्रास है।

भाव—यहाँ देवविषयिणी रति, जो कविनिष्ठ है, व्यक्त हो रही है; अतः उसको लेकर भाव-ध्वनि है।

'देवादिविषया रतिर्भावः प्रोक्तः' प्रकाशकार ने कहा ही है।

'वैकुण्ठकण्ठीरवः' में यदि कर्मधारय समास स्वीकार किया जाय, तो यहाँ 'रूपक' अलंकार भी हो सकता है।

छन्द—शार्दूलविक्रीडित। यह एक वर्णिक वृत्त है' जिसमें १९ वर्ण होते हैं। वृत्तरत्नाकरकार ने इसका अधोलिखित लक्षण किया है—

'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्'

म स ज स त त गु

SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, SSI, S

अपि च—

यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठित-
प्राधान्यौ विधिशंकरौ किमु परे तत्रामरेन्द्रादयः।
अन्तःसंततमन्तरायरहितैर्यो योगिभिर्ध्यायते
सान्द्रानन्दसुधोदधिं निरवधिं तं श्रीनृसिंहं भजे ॥ २ ॥

यत्संकल्पेनि—यत्र विधिशंकरौ धातृमहेशावपि यत्संकल्पविकल्पकल्पितजगज्जन्मात्ययाधिष्ठितप्राधान्यौ यस्य परब्रह्मणः हरेः सङ्कल्पेन इदमहं करिष्यामि इति

मानसव्यापारेण 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' इति 'स लो-कानसृजत' इति श्रुतेः। विकल्पेन विविधेन कल्पेन प्रकारेण चन्द्रादिसूर्यरूपेण कल्पितयोः निर्मितयोः जगज्जन्मात्ययो जगतो भुवनत्रयस्य जन्मनि सर्जनव्यापारे अत्यये संहारकर्मणि च अधिष्ठितं प्राप्तप्राधान्यं मुख्यत्वं याभ्यां तौ वर्तेते इति शेषः। अर्थात् जगत उत्पत्तिसंहारकारकौ ब्रह्मशंकरावपि यस्य सर्गलयशक्त्यानुगृहीतावेव जगत उत्पत्तिसंहारौ कुरुत। तत्र परे इतरे अमरेन्द्रादयः त्रिदशप्रभृतयः किमु तद्वशगा इति किमु वाच्यमित्यर्थः। इन्द्रादीनां तु का कथा इत्यर्थः। यः यश्च अन्तरायरहिते निर्विघ्ने इत्यर्थं, योगिभिः चित्तवृत्तिनिरोधपरायणैः मुमुक्षुभिः सन्ततं सततं त्यक्तान्यव्यापारैरित्यर्थः। अन्तः स्वात्मनि ध्यायते चिन्त्यते ध्यानविषयीक्रियते। सान्द्रानन्दसुधोदधिं सान्द्रानन्दसुधायाः निर्भरानन्दामृतस्य उदधिं सागरम् आनन्दघनमित्यर्थः। निरवधिं निस्सीमानम् अनन्तं तममुं श्रीनृसिंहाख्यं परं ब्रह्म भजे अहं सेवे अनन्यचेताः सततं तत्प्रवणो भवामि इति भावः ॥ २ ॥

जिसके संकल्प विकल्प मात्र से प्रसूत होनेवाले जागतिक सृष्टि एवं ध्वंस जैसे कार्यों में ब्रह्मा तथा शंकर को भी प्रमुख भार वहन करना पड़ता है, वहाँ इन्द्र आदि अन्य देवताओं की गणना ही क्या है ! तथा जो निरन्तर एवं निर्विघ्नता-पूर्वक योगियों की चित्तवृत्ति का विषय बना रहता है, उस असीम एवं घन संश्लिष्ट आनन्दामृत के महोदधि भगवान् नृसिंह का मैं स्मरण करता हूँ।

अलंकार—'सरल विरल कलित' में अनेक वर्ण (ल् प्) की अनेकशः आवृत्ति है, अतः वृत्ति अनुप्रास है। इसी प्रकार अन्तिम चरण में 'ध' वर्ण की भी अनेकशः आवृत्ति है, अतः यहाँ भी वृत्त्यनुप्रास है। छन्द पूर्वोक्त ही है।

शेषोऽशेषविशेषणोक्तिनिपुणोऽप्यास्तेतरामस्तधीः
यस्योद्यद्गुणवर्णनेऽपि न ययौ वागीशवागीशताम्।
यद् वेदोऽपि न वेद तत्र विषये मर्त्यः प्रवृत्तोऽस्म्यहं
यस्मादर्भकभाषगर्भितगिरा स्यादेव कौतूहलम् ॥ ३ ॥

शेष इति—यस्य श्रीनृसिंहाख्यस्य परमब्रह्मणः उद्यताम् उद्गच्छतां जगति आविर्भवतां, किमुत अन्तर्हितानामिति भावः। गुणानां निरतिशयवैभवानां वर्णने कथने अशेषविशेषणोक्तिनिपुणः अशेषाणां सर्वेषां विशेषणानां गुणादीनां विशेष्यधर्माणां उक्तौ कथने निपुणः कुशलः शेषोऽहिराडपि अस्तधीः मन्दप्रज्ञः सन् आस्तेतरां तूष्णीं तिष्ठति मौनमाचरति। जगद्विदितानामपि श्रीनृसिंहगुणानामनन्तत्वमिति भावः। तथा वागीशवाग् वागीशस्य बृहस्पतेरपि वाक् गीः ईशतां सामर्थ्यं पाटवं वा न ययौ न प्राप। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

इति श्रुतेः वाङ्मनसातीतत्वात्तस्येति भावः। किंच वेदोऽपि वेदत्रय्यपि यत् यन्नृसिंहाख्यं ब्रह्म न वेद न जानाति 'तत्र वेदा अवेदा भवन्ती'ति श्रुतेः। तत्र तद्वर्णने मर्त्यः मरणधर्मा सन्नप्यहं प्रवृत्तः अस्मि। तद्वर्णनपरः संजातोऽस्मि। यदा शेषादयः शाश्वतिकधर्माणोऽपि तद्वर्णनेऽशक्ताः तदा मादृशां तु कैव कथेति मर्त्योपादानम्। परंतु यस्मात् यतः कारणात् अर्भकभावः अर्भकता बाल्यं गर्भितं तिरोहितं यस्यां सा गीः वाणी तया विदुषां किंचित् कौतूहलं कौतुकं स्यादेव भवेदेव। यथा अर्भकाणां स्खलन्ती वाक् सर्वान् कुतूहलयति तद्वत् ममापि इदं काव्यं विदुषां कौतुकमातनिष्यति इति धियाऽत्र प्रवृत्तोऽस्म्यहमिति भावः॥ ३॥

अन्तर्निहित गुणों की बात छोड़ें, जिसके व्यक्त एवं श्रुतिगोचर गुणों के वर्णनार्थ निखिल विशेषणोंकी उक्ति में कुशल (सहस्रमुख) शेषनाग भी मन्दप्रज्ञ हो मौन साध लेते हैं; यहाँ तक कि स्वयं वाचस्पति की वाणी भी निःस्पन्द हो जाती है, जिसको अन्ततः वेद भी नहीं जानता, उस परब्रह्म के वर्णन मे मरणधर्मा मैं जो प्रवृत्त हुआ हूं, वह केवल इसलिए कि बालचापल्य से भरी हुई बुद्धि के उद्गारों को सुनकर लोगों को कुतूहल हो॥ ३॥

प्रथम चरण में वृत्त्यनुप्रास के साथ 'असाध्य कर्म के प्रवर्तक हेतुरूप' में उपन्यस्त चतुर्थ चरणके अर्थ को लेकर 'काव्यलिङ्ग' नामक अलंकार भी है। छन्द वही है॥

विष्णोश्चिरं चरणपङ्कजचञ्चरीकः
श्रीज्ञानराजतनुजो दनुजान्तकस्य।
सूर्यः करोति गुणगौरवकीर्तनेन
स्वीयां सुधारसवता रसनां सनाथाम्॥ ४॥

विष्णोः इति—दनुजान्तकस्य दानवसंहारकर्तुः विष्णोः नृसिंहस्य चिरं चिरकालपर्यन्तमाबाल्यादित्यर्थः। चरणपङ्कजचञ्चरीकः पादपद्मभ्रमरः तत्समाराधनपर इति यावत्। श्रीज्ञानराजतनुजः श्रीज्ञानराजस्य तन्नामधेयस्य पितुः तनुजः आत्मजः सूर्यः तन्नामाहं कविः सुधारसवता अमृतमयेन गुणगौरवकीर्तनेन गुणानां गौरवस्य महिम्नः कीर्तनेन स्तुत्या स्वीयामात्मीयां रसनां जिह्वां सनाथां कृतार्थां करोति वितनुते। 'चञ्चरीकोऽथ भ्रमरे' इति कोषः॥ ४॥

दानवोंके संहारक विष्णु के चरण-कमल का चिरकाल से भ्रमर की भाँति लोभी ज्ञानराज का पुत्र सूर्य नामक कवि अपनी वागिन्द्रिय को अमृत रस से सराबोर गुण एवं गौरव के कीर्तन द्वारा कृतार्थ करने जा रहा है॥

छंद—वसन्त तिलका है। प्रथम चरण में रूपक नाम का अलंकार है॥ ४॥

कुतो रसनिरूपणं त्रिघटिकावतारः कुतस्
ततो मम मतिः क च क चरितं जगत्स्वामिनः।

कुतः प्रविततार्णवो लवणनिर्मिता नौः कुतस्
तथापि मम चापलं कविजनाः क्षमध्वं क्षणम् ॥ ५ ॥

कुत इति—रसनिरूपणं शृङ्गारादीनां नवविधानां रसानां निरूपणं प्रतिपादनं कुतः क्व, त्रिघटिकावतारः श्रीविष्णोः नृसिंहरूपेण त्रिघटिकामितं कालं यावत् अवतारः अवतरणं कुतः क्व । नोभयं सङ्गच्छते इत्यर्थः । प्रह्लादरक्षाकृते विष्णुना केवलघटिकात्रयमितकालमवतीर्य पुनरन्तर्हितमिति पौराणिकी कथा स्वल्पकालिके चरिते सर्वरसानां सत्त्वेऽतिदुर्लभत्वेन न सर्वरसानां स्फुटतरानुभावकं चरितं जगदीश्वरस्यापि इति तच्चरितवर्णने सर्वरसप्रतिपादनमपि न स्यात् । ततः ततोऽपि दुर्घटमुच्यते इति शेषः । मम मतिः अत्यल्पविषया मम बुद्धिः क्व कुत्र जगत्स्वामिनः त्रिलोकीपतेः विष्णोः चरितं च क्व । एतदप्युभयं नैव सङ्गच्छते । प्रविततः सुविस्तृतः अर्णवः सागरः क्व तं तरीतुं लवणनिर्मिता लवणेन सैन्धवेन निर्मिता रचिता नौः तरणिः च क्व । यथा सागरं तरीतुं लवणनिर्मिता नौः न कार्यवाहिका तद्वत् अत्यल्पमतेः ममापि जगत्स्वामिनः चरितं वर्णयितुं न सामर्थ्यमित्यर्थः । तथापि कविजनाः विद्वांसः ममेदं चापलं तद्वर्णनात्मकमित्यर्थः क्षणं क्षमध्वं सहध्वम् । अर्भकस्य स्खलन्ती वागिव न तेषां उद्वेगजनकं भवेदिदं मे तद्वर्णनात्मकं चापमिति भावः ॥ ५ ॥

भला, कहाँ नव रसों की चर्चा और कहाँ तीन घटिका-मात्र काल तक का नृसिंहावतार ? इनकी क्या सङ्गति है ? इसमें भी असङ्गत बात सुनिये, कहाँ मेरी अत्यल्प बुद्धि और कहाँ जगत् के स्वामी का अगाध चरित ? अपनी अल्पबुद्धि से इनके चरित्र का वर्णन तो वैसा ही दुष्कर है जैसे विशाल समुद्र का सन्तरण करने के लिए नमक की बनी नौका का अवलम्ब । फिर भी उस दुःसाध्य कार्य को करने के लिए मैं जो उद्यत दिखाई पड़ता हूँ, उस चापल्य को कविजन कुछ समय के लिए क्षमा करें ।

इस श्लोक में 'विषम' नामक अलङ्कार है ॥ ५ ॥

शृण्वन्तु मत्कृतिमिति प्रथितान् कवीन्द्रान्
न प्रार्थयेहमिह कोऽपि गुणो यदि स्यात् ।
ते चापलोक्तिरसिका यदि वा भवेयुः
स्यादादरस्तदतिचाग्धियाममीषाम् ॥ ६ ॥

शृण्वन्तु इति—अहं सुर्यकविरित्यर्थः । प्रथितान् जगद्विख्यातान् कवीन्द्रान् कविमूर्धन्यान् मत्कृतिं ममेमां रचनां शृण्वन्तु आद्रियन्तामिति न प्रार्थये नाभ्यर्थयितुमुत्सहे । यस्मात्, यदि इह अस्मिन् मम काव्ये कोऽपि गुणः स्यात् कश्चित् चमत्कारो भवेत् । यदि वा मम काव्यस्य गुणशून्यत्वेऽपि ते कवीन्द्राः चापलोक्तिरसिकाः बालचापल्येन प्रयुक्तं वाक्यं श्लाघन्त इत्यर्थः । भवेयुः स्युः तर्हि विनैव

मम निवेदनम् अतिचारुधियां सुमेधसाम् अमीषाम् एतेषाम् कवीन्द्राणाम् आदरः स्यात्। स्वभावत एव तत्र तेषां प्रवृत्तिरुदियात् न तत्कृते कश्चित्प्रार्थनावसर इति भावः। 'यद्यस्ति वस्तु किमपीह तथानवद्यं द्योतेत तत् स्वयमुदेष्यति चानुरागः' इति भावः॥ ६॥

'प्रख्यात कवीन्द्र जन मेरी इस रचना को सुनें'—ऐसी प्रार्थना करने का साहस नहीं हो रहा है। मैंने अपने मन में यह समझ रखा है कि मेरे काव्य के संबन्ध में दो बातें हो सकती हैं: एक तो यह कि कदाचित् उसमें कोई गुण हो और दूसरी यह कि वह निर्गुण हो। यदि मेरी कविता में कोई गुण होगा, तब इन सुन्दर बुद्धि वाले कवीन्द्रों को उसमें स्वयं आदर होगा ही और यदि कदाचित् वह गुण-शून्य हुई और कविजन भी संयोग से शिशु-सुलभ-चापल्य-भरी उक्तियों के श्रवणरसिक हुए, तब क्या पूछना? स्वभावतः श्रवण में प्रवृत्ति होगी ही। सारांश यह कि दोनों पक्षों में प्रार्थना का अवसर नहीं है। यहाँ काव्यलिङ्ग का सुन्दर निर्वाह है॥

छन्द—वसन्त तिलका। इसमें १४ वर्ण होते हैं। गण ये हैं—त भ ज ज एवं २ गुरु वर्ण॥ ६॥

तत्र श्रीमन्मार्तण्डमण्डलाखण्डप्रचण्डकरनिकरविस्फाररुचिरप्रचुरतरप्रकाशस्य सुरराजराजितमुकुटमणिविराजितपदनीरजस्य भगवतः सामराजस्य सुधामाधुरीधुरीणगुणगणवर्णनाकर्णनपूर्णकर्णान् प्रभूतनिरतिशयतोषाभिलाषेण साधवः स्वत एवानुरक्ता भवेयुर्यथा स्वभाव एवामोदस्य यन्मधुकरानाकर्षति।

तत्रेति—श्रीमन्तः कान्तिमन्तः मार्तण्डमण्डलस्य सूर्यमण्डलस्य ये अखण्डा अविकलाः प्रचण्डाः तिग्माश्च करनिकराः किरणसमूहाः तेषां विस्फारवत् सर्वत्रप्रसारवत् रुचिरः सुन्दरः प्रचुरतरः प्रभूततरश्च प्रकाशो यस्य तस्य सुरराजस्य देवेन्द्रस्य राजिता विद्योतमाना ये मुकुटमणयः किरीटरत्नानि तैः विराजिते सुशोभिते पदनीरजे चरणकमले यस्य तस्य देवेन्द्रेणापि पूजितस्येत्यर्थः। भगवतः सकलैश्वर्यसम्पन्नस्य 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' इति विष्णुपुराणोक्तभगार्थयुक्तस्य वा सामराजस्य साम्नां राजा सामराजः तस्य, सामश्रेष्ठरूपः। विष्णोः सामरूपत्वात्। 'त्रिसामा सामगः साम' इति विष्णोर्नाम सहस्रे। 'यद्वा सामगर्भस्य' इति पाठः स्यात्। साम गर्भे यस्य स तथा। सामगर्भेति विष्णुनाम शब्दस्तोममहानिधौ। एवंभूतस्य नृसिंहाख्यस्य सुधामाधुरीधुरीणाः सुधामाधुर्यधूर्वहाः। सुधामाधुर्यवन्त इति यावत्। ये गुणगणाः गुणनिकराः तेषामाकर्णनेन श्रवणेन पूर्णाभ्यां कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां प्रभूतः जातः यः निरतिशयतोषः निरतिशयानन्दः तस्य अभिलाषेण इच्छया साधवः सन्तः स्वतः स्वयमेव अनु-

रक्ताः आकृष्टा भवेयुः । यथा आमोदस्य सुरभेः अयं स्वभावः यत् स मधुकरान् भ्रमरान् आकर्षति आवर्जयति ।

इसमें भी अनुप्रास का चमत्कार दर्शनीय है ।

अथवा जिनका रुचिर एवं अत्यधिक प्रकाश चमकते हुए सूर्यमण्डलकी अखण्ड एवं तीखी किरणों के प्रसार सा व्यापक है, जिनके पद कमल देवेन्द्र की भव्य मुकुटमणि के सम्पर्क से निरन्तर शोभित रहा करते हैं, उन भगवान् सामराज के अमृतमय गुणगान के श्रवण से कर्णकुहर के भर जाने पर जो प्रभूत एवं अकथनीय आनन्द मिला करता है उसकी अभिलाषा साधुजनों को [प्रस्तुत रचना के प्रति] शीघ्र वैसे ही आकृष्ट कर लेगी जिस प्रकार आमोद [गन्ध] स्वभावतः मधुकरको आकृष्ट कर लेता है ॥ ७ ॥

नटे सामाजिके वापि रसाविर्भाव इष्यते ।
तदत्रास्त्युभयं यस्मात् सर्वान्तर्यामिता हरेः ॥ ७ ॥

नट इति—रसाविर्भाव रसस्य शृङ्गारादेः आविर्भावः प्रादुर्भावः नटे अभिनेतरि सामाजिके तद्द्रष्टरि वा इष्यते मन्यते । यस्मात् यतः कारणात् हरेः श्रीविष्णोः सर्वान्तर्यामिता सर्वान्तर्गतत्वमस्ति अतः तदुभयम् अभिनेतृत्वं द्रष्टृत्वं चेत्यर्थः । अत्र अस्मिन्नेव नृसिंहे वर्तते ॥ ७ ॥

रस का आविर्भाव सामाजिक एवं अभिनेता दोनों ही में इष्ट है । क्यों कि हरि सर्वान्तर्यामी हैं, अतः उनमें अभिनेतृत्व एवं सामाजिकत्व दोनों बन सकते हैं ।

ते स्युः क्रमादिह भयानकरौद्रवीराः
बीभत्सकाद्भुतमहास्यकृपाभिधानाः ।
शृङ्गारशान्तसहिताः क्रम एष विद्भिः
नाङ्गीक्रियेत यदि तर्हि कथाविरामः ॥ ८ ॥

ते इति—ते प्रसिद्धाः शृङ्गारादयो रसा इह अस्मिन् मत्प्रणीते काव्ये क्रमात् परिपाटीतः पर्यायात् वा स्युः एवं भवेयुः । भयानकरौद्रवीरेत्यादि—पूर्वं भयानकरसनिरूपणमत्र करिष्यते, तदनु रौद्रः, वीरः, बीभत्सकः, अद्भुत, महास्यः हास्येन सहितः हास्यरस इत्यर्थः । कृपाभिधानः करुणरस इत्यर्थः । पश्चात् शृङ्गाररसनिरूपणम् । तदनु च अन्ते शान्तरसः प्रतनिष्यतेऽत्र । यदि विद्भिः तज्ज्ञैः एष क्रमः एष पर्यायः नाङ्गीकरिष्यते नोररीकरिष्यते तर्हि कथाविरामः कथाविश्राम एव भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

वे प्रसिद्ध शृङ्गार आदि रस हमारे काव्य में इस क्रम से रहेंगे सबसे पहले भयानक रस का निरूपण यहाँ किया जायगा । उसके अनन्तर रौद्र, वीर, बीभत्स, अद्भुत, हास्य एवं करुण का । सबके अन्त में शृङ्गार की चर्चा की जायगी और इसके भी अनन्तर में शान्त की । यदि विद्वज्जन इस क्रम में सहमत न हों तो कथा ही नहीं चल सकती ॥

अलङ्कार—अनुप्रास। यहाँ भी वसन्त तिलका छन्द ही है॥ ८॥

गर्भाविर्भावभाजः कतिकति दनुजद्वेषिणोनावतीर्णाः
पूर्णास्तिर्यङ्नराणामपि जगति तथा तेन नासीन्नृसिंहः।
यस्यात्मा नैति गर्भं सकृदपि मनुजास्तस्य किं गर्भवासः
किं तातस्तस्य यस्य स्वयमयमुदरे हेमगर्भोऽर्भकोऽभूत्॥ ९॥

गर्भ इति—जगति अस्मिन् लोके संसारादारभ्य तिर्यङ्नराणां-तिरश्चां नराणां मध्ये अवतीर्णाः अंशत इति शेषः, पूर्णाः परिपूर्णा अपि रामकृष्णादयः दनुजद्वेषिणः असुरविध्वंसकाः कति कति केचन एव गर्भाविर्भावभाजः न गर्भात् योषिदुदरात् आविर्भावं प्रादुर्भावं भजन्ते जुषन्ते इत्यर्थः। केचन एव गर्भाविर्भावभाज इति न अपि तु सर्वे एव इत्यर्थः। यतोऽयं नृसिंहः नरसिंहोभयात्मकः तिर्यङ्नरोभयात्मक इति यावत्। तेन उभयात्मकत्वेन हेतुना अयं तथा गर्भाविर्भावभाक् न आसीत् इत्यर्थः। नहि तिर्यग् योषिद्गर्भो नारीगर्भो वा उभयात्मको भवतीति भावः। तेनायं भगवत इच्छाविग्रह इति भावः। वस्तुतस्तु भगवतोऽन्येऽपि अवताराः गर्भाविर्भावभाक्त्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि परमार्थतो न तथेत्याह—यस्यात्मेत्यादिना। मनुजाः हे नराः तस्य ईदृशस्य सर्वान्तर्यामिणो हरेः किं गर्भवासः नेत्यर्थः। किं तातः तस्य-किं तस्य परमात्मनः तातो भवितुमर्हति यस्योदरे स्वयम् आत्मना अयं प्रसिद्धः वेदवक्ता हेमगर्भः हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अर्भकः अभूत् पुत्रत्वेन उद्भूदित्यर्थः। संसारादारभ्य अद्यपर्यन्तं यथाकालं यथादेशं च अनेके भगवदवताराः धर्मस्थापनार्थमिहावतेरुः 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इति गीता। परमिदं सर्वं परब्रह्मणस्तस्य मायाविजृम्भितमेव। वस्तुगत्या तु यः परेशः सर्वदा सर्वत्र अतति गच्छति व्याप्नोति तस्यैकदेशप्राप्तिः गर्भाविर्भावादि च न सम्भवति। यस्योदरात् हिरण्यगर्भाविर्भावः तस्यैव जनककल्पनमयुक्ततरमिति भावः॥ ९॥

संसार में असुरों का विनाश करनेवाले तिर्यक् एवं मनुष्य योनि के बीच मत्स्य, राम आदि ऐसे कितने अवतार हुए, पर क्या सब के सब गर्भ से ही आविर्भूत नहीं हुए? हाँ, नृसिंहावतार अयोनिज ही रहा [और अवतारों से उसकी यह विशेषता है]। इस अवतार का अयोनिज होना तर्कसम्मत भी है। तर्क यह है कि यह अवतार नर एवं सिंह का मिश्रित रूप है, अतः इसकी उत्पत्ति के लिए भी मिश्रित योनि या गर्भ ही अपेक्षित था और वह था नहीं। और वस्तुतः विचार किया जाय तब तो अन्य अवतार भी आपाततः ही गर्भसंभूत जान पड़ेंगे, परमार्थतः नहीं। कारण यह है कि वे सर्वव्यापक हैं। ऐसे परमतत्त्व का गर्भ से आविर्भाव मानना उसे एकदेशी बनाना है।

हे मनुजगण! जिसकी आत्मा एक बार भी गर्भ में नहीं आई उसका गर्भवास कैसा?

और इसी प्रकार उसके जनक की क्या कथा? जिसके उदर में स्वयं जगत् का जनक ब्रह्मा भी शिशु की भाँति पड़ा है।

अलङ्कार—व्यतिरेक। छन्द—स्रग्धरा है। इसमें २१ वर्ण होते हैं। इसमें म र भ न य य य गण होते हैं॥ ९॥

गीर्वाणेन्द्रगिरेर्गुरोरपि गुरुर्धन्यो नृसिंहाचलो
यो विश्वंभरमुद्बिभर्ति गहनस्तम्भोऽयमम्भोनिधिः।
वासो यत्र जगन्निवासविहितः प्रह्लादमेकं जने
मन्ये मान्यतमं तमम्बरसदां योऽन्तर्दधाराच्युतम्॥ १०॥

गीर्वाणेति—स नृसिंहाचलः नृसिंहस्य अचलः पर्वतः (यस्मात् स्तम्भात् नृसिंहरूपेण श्रीविष्णुरवततार स अचल इव वर्तते इति रूपकम्) धन्यो वर्तते। यः गुरोः महतः गीर्वाणेन्द्रगिरेः देवेन्द्रपर्वतादपि गुरुः महान् वर्तते। धन्यत्वे महत्त्वे च हेतुमाह यो विश्वम्भरमित्यादिना। यः नृसिंहाचलः विश्वम्भरं जगद्धारकं श्रीविष्णुं उद्बिभर्ति धारयति।

अयं भावः—गीर्वाणेन्द्रगिरिः गीर्वाणेन्द्रेणाधीयतेऽयं तु तत्पूज्येन नृसिंहेनेति ततोऽस्य धन्यत्वं महत्त्वं चेति। अस्य स्तम्भस्य अम्भोनिधेरपि गम्भीरत्वेन दुष्प्रवेश्यस्वरूपं गहनत्वमाह—वास इत्यादिना। अयं स्तम्भः अम्भोनिधेः समुद्रादपि गहनः गम्भीरो वर्तते। यत्र यस्मिन् स्तम्भे जगन्निवासविहितः श्रीविष्णुकृतः निवासोऽस्ति। अत्रोभयत्र स एव स्तम्भः नृसिंहाचलशब्देन गहनस्तम्भशब्देन च व्यपदिश्यते व्यपह्रियते यस्माद् विष्णुराविरासीत्।

अयं भावः—चातुर्मासिकीं निद्रामपेक्षमाणेन भगवता अम्भोनिधिरूपं निर्मक्षिक स्थानं शयनार्थमाश्रीयते इति पुराणादिप्रसिद्धम्। अयन्तु स्तम्भो अम्भोनिधेरपि गहनो यतो अम्भोनिधिं परित्यज्य स्तम्भारम्भकालात् शयानो भगवान् हिरण्यकशिपुकोलाहलेन प्रह्लादे करुणया प्रबुद्ध इति।

जने अत्र मर्त्येषु तमेकं प्रह्लादम् एव अम्बरसदामपि देवानामपि मान्यतममादरणीयतमं मन्ये अवैमि। यः प्रह्लादः तं तादृशम् अच्युतं श्रीविष्णुमन्तः स्वहृदये दधार धारयामास। तस्यैवानन्यभक्तत्वात्। यः सर्वदा तमेव हृदये धारयामास स प्रह्लादः नूनं देवानामपि मान्यतम एव। स्थावरेषु अचलरूपः गुरुतमः स स्तम्भः सर्वेषामपि गिरीणां सर्वेषामपि समुद्राणां गहनतमश्च वर्तते। यस्मात् विष्णुराविर्बभूव, जङ्गमेषु मनुष्यादिषु च स प्रह्लादः देवानामपि मान्यतमः योऽन्तरात्मनि तं श्रीविष्णुं दधारेति भावः॥ १०॥

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये प्रथमोच्छ्वासः।

देवेन्द्र के विशाल पर्वत से भी विशाल वह नृसिंहाचल धन्य है, जो साक्षात् विश्वपालक विष्णु का उद्वहन कर रहा है। यह सागर से भी गहनतम वह स्तम्भ है, जहाँ जगन्निवास ने अपना आवास बनाया। [इनके साथ साथ] मैं तो मनुष्यों के बीच प्रह्लाद ही एक ऐसा है, जिसको [तारतमिक दृष्टि से देखने पर] देवताओं में भी मान्यतम समझता हूँ! कारण यह कि उसीने इस अच्युत को जैसा चाहिए उस रूप में अंतःकरण में धारण किया है॥ १०॥

नृसिंह चम्पूकाव्य का यह प्रथम उच्छ्वास समाप्त।



अथ द्वितीय उच्छ्वासः

आसीद् दैत्यकुले हिरण्यकशिपुः प्रौढप्रतापोद्धुरस्
तस्याभूद् भगवत्प्रियो गुणनिधिः प्रह्लादनामात्मजः।
दैत्येशस्तमपाठयत् स्वनिगमं नाङ्गीचकाराथ तम्
विष्णोर्नाम विनेतरन्न किमपि प्रायः प्रतिज्ञातवान्॥ १॥

आसीदिति—प्रौढप्रतापोद्धुरः प्रौढेन प्रकृष्टेन प्रतापेन तेजसा 'प्रतापस्तापतेजसोः' इति मेदिनी। उद्धुरः निर्भरः 'उद्धरो निर्भरे दृढे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः। अतितेजस्वीत्यर्थः। हिरण्यकशिपुः हिरण्यकशिपुनामा प्रसिद्धो दैत्यविशेषः दैत्यकुले दानवान्ववाये आसीत् बभूव। तस्य भगवत्प्रियः ईश्वरपरायणः गुणनिधिः गुणानां दयादाक्षिण्यादीनां निधिः आकरः प्रह्लादनामा आत्मजः सूनुः 'आत्मजस्तनयः सूनुः' इति अमरः। अभूत् अजायत। अथ अनन्तरं प्राप्ते समये दैत्येशः दानवाधिपः हिरण्यकशिपुः तम् प्रह्लादं स्वनिगमं स्वनिश्चयं, स्वसिद्धान्तमित्यर्थः॥ अपाठयत् अपीपठत्। किन्तु प्रह्लादः हिरण्यकशिपोः तं सिद्धान्तं नाऽङ्गीचकार न स्वीचक्रे, नानुमेने इत्यर्थः। स प्रह्लादः प्रायः बाहुल्येन विष्णोर्नाम विना विना भगवन्नामधेयमितरत् अन्यत् किमपि न प्रतिज्ञातवान् प्रतिजग्राहेत्यर्थः॥ १॥

दैत्यवंश में अति तेजस्वी हिरण्यकशिपु नामक एक दैत्य था। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम था प्रह्लाद। यह ईश्वरपरायण तथा दयादाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त था। दैत्येश हिरण्यकशिपु ने उस बालक को अपने ईश्वर-विरोधी सिद्धान्तों की शिक्षा दी, पर बालक ने उन्हें अङ्गीकार नहीं किया। विष्णुनाम के अतिरिक्त उसने और कुछ भी ग्रहण नहीं किया॥

छंद—शार्दूलविक्रीडित है॥ १॥

तच्छ्रुत्वा कुपितः पितातिपरुषैर्वाक्यैः सुतं त्रासयन्
स्नेहार्द्रैरपि तत्प्रलोभनपरैः भूयः समाश्वासयन् ।
तं दृष्ट्वा दृढनिश्चयं पुनरसौ निर्विण्णचेताः परं
भृत्यानात्मजयातनार्थममरारातिर्दिदेशाचिरम् ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वेति—पिता प्रह्लादजनको हिरण्यकशिपुः तत् श्रुत्वा प्रह्लादः विष्णुनामेतरत् किमपि न मनुते इति दैत्येभ्य आकर्ण्य क्रुद्धः सन् कदाचित् अतिपरुषैः अतिकठोरैः वाक्यैः सुतं प्रह्लादं त्रासयन् उद्वेजयन्, कदाचिच्च तत्प्रलोभनपरैः तत्प्रतारणपरैः स्नेहार्द्रैः प्रेमार्द्रैः वाक्यैः भूयो मुहुः समाश्वासयन् सान्त्वेन स्वसिद्धान्तं बोधयन् । समाश्वासयते समाश्वासनकरणके बोधनेऽत्र लक्षणा । एवं बोधयन्नप्यपि तं प्रह्लादं पुनः दृढनिश्चयं समाश्वसनोत्तरकालेऽपि अचलचित्तं स्थिराध्यवसायं वा दृष्ट्वा ज्ञात्वा परम् अतिशयेन निर्विण्णचेताः खिन्नहृदयः अमरारातिः सुरारिः असौ स हिरण्यकशिपुः भृत्यान् स्वकर्मकरान् आत्मजयातनार्थं स्वपुत्रपीडार्थं, प्रह्लादं क्लेशयितुमित्यर्थः । दिदेश आज्ञापयामासेत्यर्थः । दिदेश इति 'दिश अतिसर्जने' इति धातोर्लिटि रूपम् । धातूनामनेकार्थत्वात् अनुपसृष्टोऽपि दिशिराज्ञार्थे वर्तते । 'निर्विण्णो विषण्णे दुःखिते' इति शब्दार्थचिन्तामणिः ।

इस बात को सुनकर क्रुद्ध पिता हिरण्यकशिपु कभी तो निष्ठुर एवं क्रूर वाक्यों से उसे धमकाता तथा कभी विभिन्न प्रकार के प्रलोभन-पूर्ण एवं स्नेहसिक्त वचनों का प्रयोगकर साम-नीति से उसे अपना सिद्धान्त समझाता । इन उपायों के बावजूद जब उसने बालक को अपने निश्चय से डिगते न देखा, तब अन्त में उसे अत्यधिक निर्वेद हुआ और फिर इस देव-शत्रु ने अपने दासों को यह आज्ञा दी कि वे सब उसके पुत्र को पर्याप्त यातना दें ॥ २ ॥

दैत्यः—

अहो सचिवाः ! साम्प्रतं विपक्षपक्षमाश्रितः पुत्राधमोऽयमुदरोत्पन्नो व्याधिरिव तरुसङ्घट्टसमुत्पन्नो दावाग्निरिवास्मन्नाशहेतुः कुलधूमकेतुरिवोदित आस्ते । तस्मादयमग्नौ दाह्यः, सलिले क्लेदनीयः, शस्त्रैर्घातनीयः, शैलतटात् पातनीयस्तथा यथा दुःशीलतामसून् वा जह्यात् । ततो भर्तुर्यादृशं यातनाविषयं नीतस्य शिरोदाहनादिषु नृहरिस्वरूपमभिध्यायतो रोमापि न वक्रमासीत् ।

अहो इति—अहो सचिवाः हंहो मन्त्रिगणाः साम्प्रतम् एतर्हि पुत्राधमः निकृष्टपुत्रः अयं प्रह्लादः विपक्षपक्षं दानववर्गम् आश्रितः अधिष्ठितः अस्तीति शेषः । अतः उदरोत्पन्नः उदराग्निजातः व्याधिः पीडेव तरूणां वृक्षाणां सङ्घट्टात् संघर्षणात् उत्पन्नः

उद्भूतः दावाग्निः वनाग्निः इव अस्माकं नाशस्य विनाशस्य हेतुः निदानं कुलधूमकेतुः वंशविनाशकः उत्पातविशेषः वह्निर्वा उदितः उत्पन्नः अस्ति। 'धूमकेतुः उत्पातविशेषे वह्नौ ग्रहप्रभेदे वा' इति शब्दार्थचिन्तामणिः। व्याधिः स्वनाशहेतुत्वे दृष्टान्तः दावाग्निश्च कुलनाशहेतुत्वे। तस्मात् अयमसौ तथा अग्नौ वह्नौ दाह्यः दग्धव्यः सलिले वारिणि क्लेदनीयः मज्जनीयः शस्त्रैः हेतिभिः घातनीयः घातयितव्यः शैलतटात् पर्वतसानुतः पातनीयः निपातनीयः यथा येन अयं दुःशीलतां स्वीयमिदं दौःशील्यम् असून् प्राणान् वा जह्यात् त्यजेत्। दाह्यः इत्यत्र 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्। ततः तदनन्तरं भर्तुः स्वामिनः यथादेशम् आदेशम् आज्ञाम् अनतिक्रम्य यातनाविषयं पीडागोचरत्वम्। अत्र विषयशब्दो भावप्रधानो निर्दिश्यते। द्व्येकयोरित्यादिवत्। नीतस्य प्रापितस्य अस्य प्रह्लादस्य शिशोः दहनादिषु वह्न्यादिषु सर्वेष्वपि भूतेषु नृहरिस्वरूपं विष्णुरूपं चिन्तयतः ध्यायतः पश्यतो वा न रोमापि लोमापि वक्रम् आसीत् न तस्य किंचिच्छिन्नमित्यर्थः॥

हे मन्त्रि-वृन्द ! इस समय यह अधम पुत्र कुल-परम्परा के विनाशार्थ धूमकेतु की तरह उदित हुआ है। इसकी स्थिति वही है जो अपने ही उदर से उत्पन्न व्याधि की होती है। जिस प्रकार वृक्षों के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि वृक्षों का ही सर्वनाश कर देती है, उसी प्रकार मुझ से ही उत्पन्न हुआ यह बालक मेरे ही नाश का बीज बन रहा है। अतः यह इस प्रकार अग्नि में जला दिया जाय, जल में डुबो दिया जाय, शस्त्रों से मारा जाय, तथा शैलतट से गिराया जाय, जिससे या तो यह अपना दुःस्वभाव ही परित्याग दे, अथवा प्राणों से हाथ धो बैठे। पश्चात् स्वामी की आज्ञा के अनुसार विभिन्न प्रकार की यातनाओं को सहन करते हुए भी उस बालक का, जो दाहन आदि क्रियाओं में निरन्तर नृसिंह का ध्यान करता रहा, एक बाल भी बाँका न हो सका॥

> कीलालं स्थलतां स्थलं च जलतां वैश्वानरः शीततां
> पीयूषत्वमगाद् विषं च विषमं बालस्य तस्यापदि।
> नित्यं संस्मरतां सतां हृदि कृपाकूपारमीशं हरिं
> विश्वव्यापिनमूर्जितं च कुशलं कस्मादसम्भावितम्॥ ३॥

कीलालमिति—तस्य बालस्य प्रह्लादस्येत्यर्थः। आपदि भर्तृनिदेशेन भृत्यादिभिः वह्निदाहादिविपत्तौ, कीलालं पयः 'कीलालं रुधिरे तोये' इति मेदिनी। स्थलतां मरुत्वम् आगात् प्रापत्। स्थलं च मरुश्च जलतां सलिलत्वम् आगात्। एवं वैश्वानरोऽग्निः शीततां शैत्यं, विषमं विषं गरलं च हालाहलं पीयूषत्वममृतत्वमागात्। 'पीयूषं सप्तदिवसावधि क्षीरे तथामृते' इति मेदिनी। हृदि स्वात्मनि कृपाकूपारम् कृपायाः दयायाः अकूपारं सागरम् 'उत्पलादावकूपारः कूर्मराजे महोदधौ' इति मेदिनी। विश्वव्यापिनञ्च। चो भिन्नक्रमः। ईशम् ईश्वरं तं हरिं विष्णुं नित्यं सततं

संस्मरतां ध्यायतां सतां सज्जनानां कस्मात् कस्य हेतोः ऊर्जितं प्रवृद्धं सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः । कुशलमनामयं वार्ता वा असम्भावितम् न भवितुमर्हेदित्यर्थः । तेषां सर्वदैव सर्वमेव मङ्गलं भवतीति भावः । सर्वान्तर्यामिण विष्णुं ध्यायतां सततं कुशलस्यैव संभवात् । 'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् । जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते' इति स्मरणादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इस बालक के लिए इन आपत्तियों में जल स्थल हो जाता और स्थल जल, अग्नि शीतल हो जाती और विष अमृत । असल में विश्वव्यापक, ऊर्जस्वी एवं कृपा-सागर भगवान् विष्णु का निरन्तर हृदय में स्मरण करने वाले सज्जनों का कल्याण क्या कभी असम्भावित है ? ॥ ३ ॥

अहो मूर्खा मर्त्याः शृणुत हृदयस्थे नरहरौ
तदुद्भूतैर्भूतैर्मम किमपकारः प्रभवति ।
हरेश्छत्रीभूते शिरसि भुजगानामधिपतौ
भुजङ्गैरुत्तुङ्गैर्मम किमु भयं सम्भवति वा ॥ ४ ॥

अहो इति—अहो रे मूर्खाः मूढाः अतत्त्वार्थदर्शिन इत्यर्थः । मर्त्याः मरणधर्माणो मनुजाः । शृणुत आकर्णयत । नरहरौ नृसिंहे विष्णौ मम हृदयस्थे चित्तान्तर्वर्तिनि सति तदुद्भूतैः तस्मात् हरेरेव उद्भूतैः जातैः मम (तद्भक्तस्य प्रह्लादस्य) सर्वेषामेव भगवद्भक्तानामित्यर्थः । किम् कश्चित् अपकारोऽमङ्गलं प्रभवति भवितुमर्हति । नेत्ययं इति यावत् । भुजगानाम् अधिपतौ शेषनागे सर्पराज्ञे हरेः शिरसि मूर्धनि छत्रीभूते आतपत्रिते सति उत्तुङ्गैः उच्चैरपि भुजङ्गैः सर्पैः मम किमपि किञ्चनापि भयं त्रासो वा, अत्र वा शब्दोऽपकारस्य समुच्चायकः । सम्भवति संभवितुमर्हति । न कदाचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

हे मूर्खो ! विनश्वर जन्तुओ ! सुनो, जब तक भगवान् नरसिंह मेरे अन्तःकरण में विराजमान हैं, तब तक उन्हीं से उद्भूत हुए तुम्हारे जैसे प्राणियों से मेरा क्या अपकार हो सकता है ! जब तक भुजगपति शेषनाग भगवान् विष्णु के शिर पर आतपत्र से बने हुए हैं, तब तक इन उठे हुए फणों वाले सर्पों से क्या मुझे भय हो सकता है ? ॥ ४ ॥

मन्मातुरिन्दिरायाः किमु न ज्ञातं सहोदरं गरलम् ।
मातुलतामुपयातान् तस्मादस्मासु किं भयं भवति ॥ ५ ॥

मन्मातुरि—किमु किम् गरलं मन्पित्रा मन्मारणार्थं प्रयुक्तं विषं मन्मातुः मम जनन्याः इन्दिरायाः लक्ष्म्या विष्णुपत्न्या इति यावत् । सहोदरं सोदर्यं न ज्ञातं नावगतं मूढैरिति शेषः । श्रीविष्णुः मम पिता, अतः लक्ष्मीस्तत्पत्नीत्वेन मम माता वर्तते । तया सार्धमुत्पन्ना विषादयः सर्वेऽपि मम मातुः सोदर्यां एवेति ततो

मम कथं विपत्तिर्भवितुमर्हति इति भावः। एतेन सम्बन्धेन मातुलतां मातुलत्वं मातृभ्रातृत्वम् उपयातात् उपगतात् तस्माद् विषात् अस्मासु अस्माकमित्यर्थः (औपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमी। कुण्डे बदरमितिवत्। अस्मन्निष्ठविषादिहेतुकं भयमित्यर्थः) किं कथं भयं भवति।-भयसम्भावना न कथंचिदपि वर्तते इत्यर्थः॥ ५॥

इन मूर्खों ने क्या यह नहीं समझा कि यह विष मेरी माता विष्णु-पत्नी लक्ष्मी का सगा भाई है ! भला इस मामा से मुझे क्या भय होगा ?॥ ५॥

ततोऽमात्यवर्गैर्दैत्यराजमागत्य स्वसमुचितं समूचे। स्वामिन् ! महदिदमाश्चर्यमस्माभिरनुभूतं यदर्भकोऽयं ज्वलनज्वालाभिरदाह्यः, कीलालैरक्लेद्यः, शस्त्रैरच्छेद्यः गरलैरविकलाङ्गः। तस्मादधुना यातनाभिरलं, सामप्रकारेण यत्नोऽस्त्विति। ततः सुराराातिरपि प्रह्लादस्य सवयसः दैत्यपुत्रानाहूय तानित्यादिदेश। रे: सुशीलाः शिशवः ! अस्मदर्भकस्य दुरात्मनः मनोगतमवधार्य तं च स्वशीलमुपदिशन्तु।

ततस्तदोमिति दैत्यपुत्राः प्रह्लादमुपदेष्टुमुपक्रमं चक्रुः। अहो सर्वे सवयसः ! श्रूयतामिदमपूर्वं यत्पूर्वजानुष्ठितमध्वानमपहाय सर्वज्ञस्य पितुरवज्ञामयशश्चाविगणय्य विविधदुरन्तयातनोद्भवदुःखमनुभूय सारासारविचारविधुरत्वेन यत्किंचित्कुर्वता प्रह्लादेन किमधिकमसाधि। तस्मादस्माभिः सर्वैः सहेतुकैर्वचनैरुपदेष्टव्यो यथा दुष्टाशयं परिहाय स्वमार्गमाश्रयेदित्येवं सम्प्रधार्य प्रह्लादमवोचुः।

तत इति—ततः तदनन्तरं दैत्यराजमागत्य अमात्यवर्गैः मन्त्रिवृन्दैः स्वसमुचितं स्वानुरूपं समूचे वच ऊचे। स्वामिन् ? प्रभो ? अस्माभिः इदं महत् आश्चर्यमनुभूतम्। यत् अयम् अर्भकः ज्वलनज्वालाभिः दहनार्चिर्भिः अदाह्यः दग्धुमशक्यः कीलालैः जलैः अक्लेद्यः आर्द्रयितुमशक्यः शस्त्रैरायुधैः अच्छेद्यः छेत्तुम् अशक्यः गरलैर्विषैः 'गरलं तृणपूले च विषे माने नपुंसकम्' इति मेदिनी। अविकलाङ्गः न विकलानि ऊनानि विह्वलानि वा अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृशो वर्तते। 'विकल ऊने विह्वले' इति शब्दार्थचिन्तामणिः। तस्माद् अतो हेतोः अधुना एतर्हि यातनाभिः पीडाभिः अलम् न किञ्चित् साध्यम्। सामप्रकारेण सान्त्ववचनेन यत्नः प्रयासः अस्तु भवेत्। कर्तव्य इत्यर्थः। ततः तदनन्तरं सुराराातिः दैत्यः प्रह्लादस्य सवयसः समानवयसः दैत्यपुत्रान् आहूय आकार्य तान् इति इत्थम् आदिदेश आज्ञापयामास। रे ! अहो ! सुशीलाः सुस्वभावाः शिशवोऽर्भकाः ! दुरात्मनः दुष्टस्य अस्माकम् अस्य अर्भकस्य (प्रह्लादस्य) शिशोः मनोगतं चित्तान्तर्गतं चित्ताभिप्रायम् अवधार्य ज्ञात्वा, पूर्वं तदभिप्रायं निश्चित्येत्यर्थः तं स्वशीलं स्वाभि-

प्रायम् उपदिशन्तु बोधयन्तु। तत तदनन्तरं हिरण्यकशिपुवाक्यानन्तरं दैत्यपुत्रा ओम् आमिति उक्त्वा स्वीकृत्येति शेष । प्रह्लादमुपदेष्टुम् उपक्रमम् उद्योग चक्रु अकार्षु । कथमुद्योगमकार्षुरित्याह—अहो ! हहो ! सर्वे समे सवयस समानवयस इदम् अपूर्वम् अद्भुतवस्तु इति शेष, श्रूयताम् यत् पूर्वजानुष्ठितम् पूर्वजै अस्माक पितृपितामहप्रभृतिभि अनुष्ठितम् अनुसृतम् अध्वानम् वर्त्म अपहाय त्यक्त्वा सर्वज्ञस्य पितु अवज्ञाम् अवमानम् अयशो अकीर्तिम् च अवि गणय्य अविचार्य विविधदुरन्तयातनोद्भवदु खम् विविधाभ्य अनेकाभ्य दुरन्ता भ्यश्च दुष्टफलाभ्यो दुरवसानाभ्यो वा यातनाभ्य पीडाभ्य उद्भवम् उत्पन्नं दुःख अनुभूय सारासारविचारविधुरत्वेन सारासारयो तत्त्वातत्त्वयो विचारे विवेके विधुर विकल तस्य भाव तेन सारासारविचाररहितत्वादित्यर्थ । यत् किञ्चिद-नुष्ठेय कर्म कुर्वता प्रह्लादेन किम् अधिकम् असाधि साधितम्। इदानीं यावत् विष्णुभक्तिपरायणेन तेन अस्मत्तोऽधिक न किञ्चिदुपार्जितमिति यावत्। तस्मात् अस्माभि सर्वैरपि मिलित्वा इदानीं सहेतुकै युक्तियुक्तै स प्रह्लाद उपदेष्टव्य-प्रबोधनीय । अत्र तथेति शेष अग्रे यथेति वक्ष्यमाणत्वात्। यथा स दुष्टाशय निजमिद विष्णुभक्त्यात्मक दुरभिप्रेतमपहाय परित्यज्य स्वमार्गं पितृपितामहपर-म्पराप्राप्त स्वमार्गम् आश्रयेत् इत्येवमित्थं सम्प्रधार्य निश्चित्य ते सर्वे प्रह्लादमवोचु कथिरे। अवोचुरिति अवोपसृष्टस्य ब्रूञो लिटि रूपम् ।

इसके अनन्तर अमात्यवर्ग ने दैत्यराज के समीप जाकर यथोचित निवेदन किया—स्वामिन्! हम लोगों ने विचित्र आश्चर्य अनुभूत किया, कि यह बालक आग की लपटों से नहीं जलाया जा सकता, जल में नहीं डुबाया जा सकता, शस्त्रों से नहीं घातित किया जा सकता, विष से इसके अङ्गों में कोई विकृति नहीं उत्पन्न की जा सकती, अत हो चुका यातना का प्रयोग अब साम नीति का ही सहारा लीजिये। पश्चात् इस देवशत्रु ने प्रह्लाद के समवयस्क साथियों को बुलाकर यह आदेश दिया—अरे सुशील बालको! हमारे दुष्ट बालक के मनोभावों को परख कर [जैसे हो] अपने समान आचरण का उपदेश करो। इस पर उन सब ने स्वीकृतिसूचक शब्द का प्रयोग किया और उन दैत्य पुत्रों ने प्रह्लाद को उपदेश देने का उपक्रम किया।

हे साथियो! यह विलक्षण बात आप लोग सुनें कि अपने पूर्वजों के आचरित मार्ग का परित्याग कर, सर्वज्ञ पिता के तिरस्कार एवं अयश की ओर से विमुख हो नाना प्रकार के दुःखमय परिणाम पैदा करनेवाली यातनाओं का अनुभव कर, सार एवं असार के विचार में पराङ्मुख हो, मनमाना कुछ या कुछ करने वाले प्रह्लाद ने क्या पा लिया? अब हम सब का कर्तव्य है कि युक्तियुक्त वचनों से उसे ऐसा उपदेश दें जिससे कि वह कुत्सित विचार का परित्याग कर अपने परम्परागत आचार का आश्रय ले—ऐसा निश्चय कर उन सब ने प्रह्लाद से कहा।

पितुर्वृत्तं धत्ते तदनु जनकानन्दजनकः
सुशीलोऽप्यादत्ते सपदि पितुराज्ञां स्वशिरसि ।
सखे ! पुत्रः श्लाघ्यः समजनि गुणालंकरणतां
न सन्त्येवं पुत्राः किमु पशुतिरश्चामितरथा ॥ ६ ॥

पितुरिति—हे सखे ! प्रह्लाद ! स पुत्रः श्लाघ्यः प्रशंसनीयो भवति स एव च गुणानामलङ्करणतां भूषणतां भजति । गुणा एव अलङ्करणानि भूषणानि यस्य तस्य भावस्तत्ता तां गुणालङ्कृतत्वं भजते इत्यर्थः । स एव सुशीलोऽपि यः पितुर्वृत्त-माचरणं धत्ते । आचरणेन पितरमनुसरतीत्यर्थः । यश्च पितुराज्ञां सपदि शिरसा आदत्ते गृह्णाति धारयति स्वीकरोतीत्यर्थः । यश्च तदनु पित्राज्ञास्वीकारानन्तरं तत्सम्पादनेन जनकानन्दजनकः पितुः प्रमोदहेतुः । इतरथा अन्यथा किमु इति प्रश्ने, एवं भवादृशाः पित्राज्ञापरिपालनेऽकुलबुद्धयः पशूनां गवादीनां तिरश्चां पक्षिणां च पुत्रा न सन्ति अपि तु सन्त्येव । पित्राज्ञाकारिण एव यथार्थतः पुत्रा नेतरे इति भावः ॥ ६ ॥

हे सखे प्रह्लाद ! वही पुत्र प्रशंसनीय होता है, उसी के गुण शोभाधायक होते हैं, वही सुशील भी कहा जाता है, जो अपने पिता के आचरण को कार्यान्वित करता है, अर्थात् जो आचरण की दृष्टि से पिता का अनुसरण करता है, जो पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करता है और तदनन्तर उसका सम्पादन करता हुआ अपने पिता को आनन्दित करता है । अन्यथा यों तो मनमाना आचरण करने वाले पुत्र पशुओं एवं पक्षियों के भी होते हैं; फिर उनसे आप की विशेषता क्या ? ॥ ६ ॥

छन्द—शिखरिणी ॥ ६ ॥

प्रह्लादः—

तातास्तावदमी समीरणचलस्नेहाः सुतानां मुदे
यावन्नेह पिता पितामहपिता संप्राप्यते भाग्यतः ।
तावद् दीपशिखाप्रकाशवशगं विश्वं क्षणं मोदते
यावल्लोचनगोचरो न भवति प्रातर्निधिस्तेजसाम् ॥ ७ ॥

ताता इति—समीरणचलस्नेहाः समीरणवत् वायुवत् चलः चञ्चलः स्नेहः वात्सल्यं येषां ते अमी ताताः सांसारिका इमे पितर इत्यर्थः । तावदेव सुतानां पुत्राणां मुदे प्रसन्नतायै जायन्ते इति शेषः । यावत् इह जन्मनि भाग्यतः सौभाग्यवशात् पिता पितामहपिता—पितामहस्यापि पिता अनादिकालतः परम्पराप्राप्तः स वास्तविकः सर्वेषां पिता परमात्मा न प्राप्यते न लभ्यते । दीपशिखायाः प्रदीपार्चिषः प्रकाशस्य वशगं वशवर्ति इदमदो विश्वं जगत् क्षणं स्वल्पकालं तावदेव

मोदते हृष्यति यावत् तेजसां निधिः अर्कः प्रातः प्रभातवेलायां लोचनगोचरो न भवति नोदेति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रह्लाद का उत्तर है—

वायु के समान अस्थिर स्नेह रखनेवाले ये सांसारिक पिता तभी तक अपने बान्धवों के कृतार्थ होते हैं जब तक कि सौभाग्यसे सबका पिता परमात्मा नहीं मिलता। दीपशिखा से उत्पन्न होनेवाले प्रकाश का सहारा लेकर यह संसार उतने ही समय तक प्रसाद लाभ करता है जब तक प्रातःकाल तेजोनिधि दृष्टिगोचर नहीं होते॥

छन्द—शार्दूलविक्रीडित। अलङ्कार—दृष्टान्त ॥ ७ ॥

अगस्त्योऽभूत् कुम्भात् कथयत किमम्भो वहति वा
न किं लोके श्लाघ्यः तदनु कलशोऽनेन मुनिना।
अभूद् रम्भागर्भादतिसुरभिकर्पूरपटलं
तदादत्ते पर्णान्यथ च किमु रम्भां स्थगयति ॥ ८ ॥

नहि निर्गुणयोर्जडजडाश्रययोर्मातापित्रोर्वृत्तानुसरणं सगुणस्य पुत्रस्य लोके दृष्टं प्रत्युत तादृशपुत्रजन्मना तथाभूतयोरपि तयोर्लोके आदरो दृष्ट इत्याह—

अगस्त्य इति—अगस्त्यः तन्नामा प्रसिद्धो महर्षिः कुम्भात् कलशात् अभूत् अजायत। हे दैत्यदाराः ! कथयत इद तु वदत स अगस्त्यमुनिः किम् अम्भो जलं वहति ? न वहतीत्यर्थः। कलशयोनिरपि भूत्वा स जलं न वहति। तथापि तदनु अगस्त्यसम्भवानन्तरम् अनेन मुनिना अगस्त्येन कलशजातेन लोके जगति कलशो घटः जडाश्रयोऽपि न श्लाघ्य किम् ? प्रशस्य एवेति भावः। रम्भायाः कदल्या गर्भात् मध्यात् अतिसुरभि अतिसुगन्धि कर्पूरपटलं घनसारनिचयः अभूत्। तत् कर्पूरपटलं पर्णानि आदत्ते किमु, नैवेत्यर्थः। अथ च तथापि लोकोऽतिसुरभि कर्पूरपटलं गौरवेण तन्मातृभूतामतिजडामपि रम्भां स्थगयति पिधत्ते। पिधानेन तस्या आदरं करोतीत्यर्थः। एवं जडजडाश्रययोरपि मम मातापित्रोर्मदीयविष्णुभक्तिगुणगौरवेण लोके पूजा भविष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

और जहाँ तक माता-पिता के अनुसरण की बात है, वह निर्गुण माता पिता के सम्बन्ध में नहीं है, [देखो] महर्षि अगस्त्य की उत्पत्ति कुम्भ से हुई, पर क्या वे [अपने पिता के समान] जल वहन करते हैं ? नहीं; फिर भी इस महर्षि के कारण बाद में उस निर्गुण कलश की भी प्रतिष्ठा नहीं हुई ? इसी प्रकार रम्भा (केला स्तम्भ) के गर्भ से अति गन्धपूर्ण कर्पूर की उत्पत्ति हुई है; क्या वह अपनी माता के समान पत्र धारण करता है ? नहीं, इतना ही नहीं, कर्पूर के सामने रम्भा को संसार ढँक देता है।

छन्द—शिखरिणी ॥ ८ ॥

अपि च—

जीवास्तावत् स्वकर्मनिर्मितानेकविचित्रयोनिषु चिरं भ्रमन्तः प्रति जन्म परस्परं पितापुत्रतां प्रपद्यन्ते एव। तत्र तत्र तज्जातिवर्णाश्रम-धर्माभिमानेन यावज्जीवं वर्तमानाः शनैर्देहभोगं समाप्य विधिवशाद् स्माद् विपद्यन्ते। तथा च कैः केषामुद्धृतिरिति निश्चयेऽपि तन्माया-ग्रस्ताः पुनर्मोहमेवानुसरन्ति।

जीवा इति। जीवाः स्वैः स्वैः कर्मभिः निर्मितासु स्वकर्मानुरूपं प्राप्तासु अनेकासु विचित्रासु योनिषु चिरं भ्रमन्तः परिभ्रमन्तः सन्तः प्रतिजन्म जन्मनि जन्मनि परस्परम् अन्योन्यं पितापुत्रतां प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्त्येव। तत्र तत्र तासु तासु विचित्रासु योनिषु ब्राह्मणक्षत्रियादितत्तद्वर्णाभिमानेन ब्रह्मचर्यादितत्तदाश्रमाभिमानेन च यावज्जीवं जीवनपर्यन्तं वर्तमाना विद्यमानाः शनैः देहभोगं शरीरभोगं समाप्य विधिवशाद् अस्मात् देहात् विपद्यन्ते वियुज्यन्ते म्रियन्ते इति यावत्। तथा कैः कर्मभिः केषां जीवानामुद्धृतिः उद्धरणमिति निश्चयेऽपि निर्णयेऽपि तन्माया-ग्रस्ता तस्य विधेः मायया ग्रस्ताः भगवतो माययाऽपहृतज्ञानाः पुनः भूयोऽपि मोहमेवानुसरन्ति पितृभक्त्या ममोद्धार इति पुत्रस्य मोहः, पुत्रकृतपिण्डदानादि-क्रियया च ममोद्धारः इति पितुर्मोहस्तं परस्परं प्राप्नुवन्तीति भावः।

और भी—

जीवमात्र अपने अपने कर्म के फलस्वरूप अनेकानेक विचित्र योनियों में अनादि काल से भरमाते हुए जन्म जन्म में पिता-पुत्र-भाव को परस्पर प्राप्त होते रहते हैं। और फिर उस उस योनि में अपनी जाति एवं वर्णाश्रम धर्म के अभिमान से चूर हो होकर जीवन भर धीरे धीरे प्रारब्ध भोग को समाप्त कर दैवात् इस शरीर से विच्छिन्न हो जाते हैं। और यद्यपि यह बहुत ही स्पष्ट हैं कि किन कर्मों से किसका उद्धार हो सकता है, तथापि परमात्मा की माया के चंगुल में फँसा हुआ लोक पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता रहता है।

अपरे तु—

यं सखे स्मरसि सोऽस्ति को हरिः किं प्रयोजनमनेन हन्त ते।
राज्यभोगमपहाय शाश्वतं यातना कथमथानुभूयते ॥ ९ ॥

यमिति। हे सखे! यं हरिम् अनन्यमनाः त्वं स्मरसि चिन्तयसि ध्यायसि स ते हरिः कः कीदृशो वर्तते। हन्त? बत? अनेन हरिणा ते तव किं प्रयोजनम् किं फलं चिन्त्यमानेन साध्यते। शाश्वतं सार्वकालिकं राज्यभोगम् आधिपत्यसुखं परित्यज्य कथं यातनाक्लेशोऽनुभूयते ॥ ९ ॥

अन्य दैत्यशिशुओं ने कहा—

हे सखे ! जिस हरि का तुम एकचित्त होकर स्मरण किया करते हो वह तुम्हारा हरि कैसा है ! इससे तुमको लेना देना क्या है ? इस शाश्वत राज्यभोग का परित्याग कर क्यों [अकारण] यातना का भोग कर रहे हो ?

छन्द—रथोद्धता ॥ ९ ॥

अपि च—

दुर्बलं नरशरीरमीदृशं तत्पुनर्गुरुगदाधिवर्जितम् ।
वैभवं जगति विस्तृतं सखे मृग्यतेऽथ किमतः परं त्वया ॥ १० ॥

दुर्बलमिति । पूर्वं तु नरशरीरम् नृदेह एव ईदृशमित्थं दुर्बलं कृशं वर्तते । तत्पुनः तच्छरीरं यदि गुरुगदाधिवर्जितं गुरुभिः महद्भिः राजयक्ष्मादिभिः गदैः रोगैः आधिभिः मानसीभिर्व्यथाभिः वर्जितं रहितं भवेदिति शेषः । जगति लोके विस्तृतमति विपुलं वैभवं धनधान्यादिकं भवेत् । अथानन्तरम् अतः परम् इतोऽप्यधिकं त्वया किं मृग्यतेऽन्विष्यते यदर्थं हरिः सेव्यते इति भावः । हे प्रह्लाद ! प्रकृत्या मानवानां शरीरं दुर्बलं भवति, किन्तु यदि तत् रोगैः मानसव्यथाभिश्च रहितं प्राप्येत । अथ च विपुला सम्पदवाप्येत तदा ततोऽधिकं किं मार्गणीयं पुंसः । तच्चैतत् त्वया सर्वमपि सुलभमतः त्वया हरिः किमित्याराध्यते ॥ १० ॥

और भी,

यह मानव शरीर, जो नितान्त दुर्बल है, यदि कहीं वह राजयक्ष्मा जैसे दुरन्त रोगों एवं मानसी व्यथाओं से रहित हो जाय और उस पर भी यदि इस संसार में अपार वैभव प्राप्त हो जाय, [तो इसे त्यागकर] हे सखे ! तुम और इससे अधिक क्या प्राप्त कर सकोगे जिसकी खोज कर रहे हो ? [हरि की उपासना से क्या मिल जायगा ?]

छन्द—रथोद्धता ॥ १० ॥

प्रह्लादः—

आत्मानं स्वशरीरमेव मनुते मुक्तिं सुषुप्तिं पराम्
आनन्दं विषयोपभोगमजनं विज्ञानहीनो जनः ।
देहं मूत्रपुरीषपूरितमसौ नो वेत्ति निद्रां पुनः
चित्ताभ्रान्तिमयं विरामसमये शोकप्रदान् गोचरान् ॥ ११ ॥

आत्मानमिति । विज्ञानहीनः विशिष्टं ज्ञानं विलक्षणं ज्ञानं वाऽनुभवरूपं तत्त्वसाक्षात्कारस्तद्रहितः अज्ञः जनः स्वशरीरमेव आत्मानं मनुते जानाति । देहव्यतिरिक्तं सच्चित्स्वरूपम् आत्मानमयं नैव वेत्तीत्यर्थः । सुषुप्तिमेव, सर्वविषयाज्ञानरूपां निद्रामेव । शोभना सुप्तिः सुषुप्तिः सा चाज्ञानरूपैव सुपदसमभि-

व्याहारात्। तां सुषुप्तिं, परां मुक्तिं, सालोक्यादिरूपाऽपरामुक्तिस्तदपेक्षया प्रकृष्टां मुक्तिमपवर्गं मनुते। अज्ञाननाशरूपं ज्ञानसारूप्यं नेत्यर्थः। विषयाणां अङ्गनादिविविधपदार्थानाम् उपभोगभजनम् उपभोगः सुखसाक्षात्कारस्तद्भजनं तत्सम्पादनमित्यर्थः। आनन्दं वेत्ति। असौ अतत्त्वज्ञः सांसारिको जनः देहं मूत्रेण पुरीषेण विष्ठया च पूरितं निर्भरं नो वेत्ति। यदि स इमं देहं मूत्रादिपरीतं विद्यात् तर्हि ततो जुगुप्सेत न चैनम् आत्मानं प्रतीयात्। निद्रां चित्ताभ्रान्तिं चेतसो विषयेषु भ्रमणाभावम् अज्ञानमिति यावत्। चित्तभ्रान्तिमिति स्वपपाठः। तदानीं चेतसो लयाभ्युपगमेन भ्रमणासम्भवात्। न वेत्ति। किंचायमज्ञानाधिमोहितधीः पुमान् गोचरान् विषयान् विरामसमये अवसाने परिणतौ वा शोकप्रदान् दुःखदायिनो न जानाति। अत एव तेषु आसक्तो भवति। 'गोचर इन्द्रियार्थे रूपशब्दगन्धस्पर्शरसस्वरूपे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः॥ ११॥

प्रह्लाद का उत्तर है--

पारमार्थिक ज्ञान से वञ्चित रहने वाले ये सांसारिक जन अपने शरीर को ही आत्मा मानते हैं, सुषुप्ति को ही चरम मुक्ति समझते हैं। वे यह नहीं जानते कि यह शरीर मल-मूत्र जैसे गंदे पदार्थों से परिपूर्ण है, यह निद्रा केवल चित्त का विषयों से अधिक विच्छेद है। वे यह भी नहीं समझ पाते कि ये इन्द्रियगोचर पदार्थ अन्त में शोकदायी ही होते हैं॥

छन्दः--शार्दूलविक्रीडित॥ ११॥

अहो अहो महदज्ञानं जनानां यत् पुत्रकलत्रमित्रद्रविणविद्यावयोभिर्वयमतिरूढाः इत्यहंकाराधिरूढाः केचिन्मूढाः स्वप्रौढिं नाटयन्तः शक्रमपि न गणयन्ति। केचिदाचारचारुचरितैर्वयमध्वरकर्मसमर्मकुशलाः इति दम्भसंभारसंभृताः पितामहमपि हेलयन्ति। केऽपि कृतान्तकलितकवलायितकलेवरा अपि वयं प्रौढप्रतापचक्रवर्तिन इति स्वभुजगर्वं भाषमाणा दानवाः स्वहितमजानन्तः रमारमणचरणपरिचरणपराङ्मुखाः संसरणमरणमालाकुलाः सीदन्ति। तत्र यूयं पुनर्बालिशाः सततमन्धपरम्परापरिणतिग्रस्ता एव।

अहो इति--अहो इति महाश्चर्यद्योतनार्थं पुनरुक्तिः। जनानामिदं महदज्ञानविजृम्भणं यत् तेषु केचिन्मूढा 'वयं पुत्रैः तनयैः' कलत्रेण दारैः, मित्रैः सुहृद्भिः, द्रविणेन धनेन, विद्यया ज्ञानेन, वयसा आयुषा च अतिरूढाः प्रवृद्धाः स्म' इति इममहङ्कारम् अभिमानमधिरूढाः आश्रिता सन्तः स्वप्रौढिं स्वोत्कर्षं नाटयन्तोऽभिनयन्तः प्रदर्शयन्त इति यावत्। शक्रमिन्द्रमपि न गणयन्ति, इन्द्रमपि स्वस्मा-

दून मन्यन्ते इत्यर्थः । अपरे केचित् आचारचारचरितैः आचारस्य स्नानाचमन-सन्ध्यावन्दनादिशास्त्रविहितव्यवहारस्य चारु सम्यक् चरितैः अनुष्ठानैः वयम् अध्वरकर्ममर्मकुशलाः अध्वरस्य यज्ञस्य कर्मणः क्रियायाः मर्मणि तत्त्वज्ञाने कुशलाः निपुणाः स्म इति शेषः । इति इत्थं मन्वानाः दम्भस्य मिथ्याचारस्य सम्भारेण अतिशयेन सम्भृताः सन्नताः सन्तः पितामहमपि ब्रह्माणमपि हेलयन्ति अवजानन्ति। केऽपि इतरे केचन पुनः कृतान्तकलितकवलायितकलेवराः कृतान्तेन कीनाशेन कलितो गृहीतकवलः ग्रास इति कृतान्तकलितकवलस्तद्वदाचरितं कलेवरं शरीरं येषां ते । अथवा एवं विग्रहः—कृतान्तेन यमेन कलितं धृतं कवलायितं ग्रासीकृतं च कलेवरं शरीरं यषां ते । यमराजाभ्यवहार्यभूता अपि इत्यर्थः । वयं, प्रौढः प्रवृद्धः प्रतापः तेजः येषां ते, ते च चक्रवर्तिनः इति इत्थं स्वयोर्भुजयोर्बाह्वोः गर्वमहङ्कारं आपमाणाः कथयन्तः दानवाः दैत्याः स्वहितमजानन्तः वास्तविकं स्वहितं पथ्य-मजानन्तः अजानानाः रमारमणस्य श्रीविष्णोः चरणयोः पादयोः परिचरणात् सेवनात् पराङ्मुखाः संसरणस्य जन्मनः मरणस्य मृत्योश्च मालया परम्परया आकुलाः व्यग्राः सीदन्ति दुःखभाजो भवन्ति । तत्रापि यूयं पुनर्बालिशाः पुनः आवृत्त यद्-बालिशत्वं मौढ्यं तद्वन्तोऽतिमूढाः स्थ ये सततमनारतम् अन्धपरम्परायाः स्वपितृ-पितामहाचारप्राप्तायाः विष्णुद्वेषरूपायाः परिणत्याः परिणामेन अनर्थेन ग्रस्ताः एव ।

अहो ! आश्चर्य है कि इन प्राणियों में कितना अज्ञान भरा है । पुत्र, पत्नी, मित्र, धन, विद्या एवं वय आदि से हम सब भरे-पूरे हैं--इस अहङ्कार की भावना से परिपूर्ण कुछ मूर्ख अपनी महत्ता का अभिनय करते हुए इन्द्र को भी कुछ नहीं समझते । कुछ लोगों की दशा यह है कि वे स्नान, सन्ध्यावन्दनादि वेद-विहित कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान करने के कारण अपने को यह समझा करते हैं कि हम ही सब यज्ञकर्म के मर्म को जानने वाले हैं--और इस प्रकार दम्भाचरण से अतिशय व्याप्त हो ब्रह्मा की भी अवहेलना किया करते हैं । कुछ लोगों की स्थिति यह है कि यद्यपि उनका शरीर कृतान्त द्वारा गृहीत ग्रास से अधिक महत्त्व नहीं रखता, तथापि समझते यह हैं कि हम सब प्रौढ प्रताप के कारण चक्रवर्ती ही बने रहेंगे । इसी भावना में अपनी भुजाओं की शक्ति बघारते हुए ये दानव अपने पारमार्थिक कल्याण से सर्वथा अनभिज्ञ रह कर रमारमण की चरणसेवा से पराङ्मुख रहते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ हुए निरन्तर क्लेश का अनुभव करते हैं । इस स्थिति में फिर भी यह मूर्ख बालक अपनी मोहग्रस्त परम्परा से ग्रस्त दिखाई पड़ता है ॥

ततो दैत्येशः प्रह्लादवाक्यैरप्रतिभान् दनुजानुजान् निज्ञाय स्वसुतं सम-क्षमाहूय किंचिदाचिष्टवान् ।

तत इति—ततस्तदनन्तरं दैत्येशः स हिरण्यकशिपुः प्रह्लादवाक्यैः प्रह्लादस्य

कथनोपकथनैः दनुजानुजान् दानवभ्रातॄन् अप्रतिभान् प्रतिभारहितान् प्रतिहत-बुद्धीन् विज्ञाय ज्ञात्वा स्वसुतं समक्षं प्रत्यक्षमाहूय आकार्य निम्नप्रकारेण किञ्चित् किमपि आदिष्टवान् आदिदेश।

इसके अनन्तर उस दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद के कथोपकथन से अपने दानव भाइयों को निष्प्रतिभ समझ कर अपने पुत्र को सामने बुलाया और कुछ आदेश दिये।

मदीयवशवर्तिनस्त्रिदशयक्षरक्षोगणाः
तथा भुजगभूभुजः सकलमानवा दानवाः।
अभीप्सितफलप्रदो मदनुवर्तिनां वा नृणाम्
अहं हि जगदीश्वरः किमु न मां भजस्यात्मज ॥ १२ ॥

मदीयेति। त्रिदशानाममराणां यक्षाणां पुण्यजनानां 'यक्षः पुण्यजने' इति कोषः। रक्षसां राक्षसानां गणाः वर्गाः सकलाश्च दानवाः समग्रा दनुजाः मानवाः मनुष्याः तथा भुजगभूभुजः सर्पाधिपाः सर्वेऽप्यमी मदीये वशे वर्तन्ते तच्छीला इति मदीयवशवर्तिनः, मम वशगाः सन्तीति शेषः। अहं वा, अहमेव, 'वा स्याद्-विकल्पोपमानयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः। मदनुवर्तिनां स्वभक्तानां नृणाम् अभीप्सितफलप्रदः अभीप्सितं स्वाभीष्टं फलं प्रददाति इति तथाभूतः, जगदीश्वरः जगत्पालकः अस्मि। हि शब्दोऽत्र प्रसिद्धिं द्योतयति। हे आत्मज! पुत्र! त्वं मां (हिरण्यकशिपुं स्वजनकम्) किमु न भजसि किमर्थं नाराधयसि? ॥ १२ ॥

देव, यक्ष, राक्षस, सर्पराज, निखिल मानव एवं दानव सभी मेरे वश में हैं। मेरा ही अनुसरण करनेवाले जो मानव हैं, उन्हें अभीप्सित फल का विधान करनेवाला जगत्पालक, जगदीश्वर नाम से मैं ही ख्यात हूँ। सो हे पुत्र! तुम मेरी ही भक्ति क्यों नहीं करते? ॥ १२ ॥

प्रह्लादः—

षडूर्मिपरिदूषितः क्षणिकचित्तवृत्तिः पुमान्
अहंकृतपरोऽसुरः परमकोपनो दाम्भिकः।
जनेषु ननु निष्कृपः कृपणभाषणो यः स्वयं
कथं नु जगदीश्वरं कथयितुं स नो लज्जसे ॥ १३ ॥

षडूर्मीति—पुमान् मनुष्यः स्वभावतः षडूर्मिपरिदूषितः बुभुक्षादिभिः षड्भि-र्विकारैः परिभूतो भवति। 'बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ। शोक-मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः'। तथा पुरुषः क्षणिकचित्तवृत्तिः क्षणिका अनव-स्थायिनी चित्तवृत्तिः मनोव्यापारो यस्य स भवति। अस्थिरबुद्धिर्भवतीत्यर्थः।

पुरुषेष्वपि असुरः राक्षसः अहङ्कृतिपरः अहङ्कृतिरहङ्कारः तत्परः तत्परायणः भवति। परमकोपनः अत्यर्थं कुपितस्तिष्ठति। दाम्भिकः मिथ्याचारी च भवति। ननु इत्यामन्त्रणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। यस्त्वं स्वयं जनेषु मनुष्येषु निष्कृपो निर्दयः कृपणभाषणः कृपणस्य क्षुद्रस्येव परुषं भाषणं यस्य स तथा परुषवाक् वर्तसे। 'कदर्यः कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः इत्यमरः। स एव आत्मानं जगदीश्वरं कथयन् प्रतिपादयन् कथं न लज्जसे न ह्रणीयसे। नु इति प्रश्ने। 'नु पृच्छायां विकल्पे च' इत्यमरः ॥ १३ ॥

प्रह्लाद ने उत्तर दिया—

पुरुष स्वभावतः ही प्राण एवं मन की बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह और जरा के साथ मरण इन छः ऊर्मियों से ग्रस्त रहता है। इन ऊर्मियों के अतिरिक्त उसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका होती है। पुरुषों में भी असुर तो महान् अहङ्कारी, परम क्रोधी एवं दाम्भिक होता है। जो व्यक्ति (असुर) प्राणियों में घोर निष्ठुर एवं क्षुद्र के समान वक्ता स्वयं है, वह अपने आपको जगदीश्वर कहते हुए क्यों नहीं लज्जा का अनुभव करता? ॥ १३ ॥

दैत्यः—

चिच्चैतन्यं ब्रह्म चात्मा परात्मेत्येवं नामान्यात्मनोऽहं विजाने।
तस्मादन्यः कोऽयमस्ति हरिस्ते साकारश्चेन्नश्वरोऽनीश्वराख्यः ॥ १४ ॥

चिच्चैतन्यमिति—हे प्रह्लाद! अहम् आत्मनः चित्, चैतन्यं, ब्रह्म, आत्मा, परात्मा इति एवमित्थं भिन्नानि नामानि नामधेयानि विजाने जानामि। नास्मादतिरिक्तमन्यत् किमपि ब्रह्मादिकं वेद्मीत्यर्थः। स तु निराकारत्वादुपासकस्याप्रमूर्तत्वाच्च नोपासनकर्मतामर्हति। उपासनक्रिया हि कञ्चिद् गुणमपेक्षते, न कर्तैव कर्म भवतीति भावः। ते तव मते तस्मादतिरिक्तः अयमन्यः कः हरिः अस्ति यं त्वं भजसीत्यर्थः। चेत् यदि स त्वदभिप्रेत परात्मा साकारः आकृतिमान् तदा स नश्वरः क्षणिकः अत एव अनीश्वरश्च अप्रभुश्च भवति ॥ १४ ॥

दैत्य ने कहा—

हे प्रह्लाद! चित्, चैतन्य, आत्मा एवं परात्मा इन सबको तो मैं आत्मा का ही नाम समझता हूँ। उससे भिन्न कौन है यह तेरा हरि? यदि तुम्हारा हरि कोई साकार है तो निश्चय ही वह नश्वर एवं अनीश्वर है॥

छन्द—'शालिनी'। शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ॥ १४ ॥

अपि च—

आत्मा तावदसङ्गोदासीनोऽनाकृतिः शुद्ध आकाशकल्पः, तदन्यो हरिश्चेत् स्वपक्षपाती तर्हि शरीरित्वादनित्यः तथैकदेशित्वादव्यापकश्च।

तथैव स्मर्तव्य इति चेत्किमस्माभिरपराद्धं यदस्मान्न भजसि।

उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति अपि चेत्यादिना—आत्मेति। आत्मा तावदसङ्गः सङ्गरहितः 'असङ्गोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेरित्यर्थः। उदासीनः रागद्वेषादिरहितः। लोके हि रागद्वेषादिरहित उदासीन उच्यते। अनाकृतिः आकृतिरहितः अशरीरीत्यर्थः। अत एव शुद्धः अविद्यादिदोषरहितः इत्यर्थः। आकाशकल्पः सर्वव्यापक इत्यर्थः। चेत् यदि त्वत्पक्षपाती तवाभिप्रेतः अन्यः कश्चित् हरिरास्ते तर्हि स शरीरित्वात् अनित्यः अशाश्वतः भवति। तथा किं च एकदेशित्वात् एकत्र स्थितत्वात् स त्वदभिमतः परमात्मा अव्यापकः असर्वगः। यदि तादृशमपि तं त्वं 'स्मर्तव्यः चिन्तनीयः' इति वदसि तर्हि अस्माभिः किमपराद्धं कोऽपराधः कृतः यत् अस्मान्न भजसि।

और भी,

आत्मा निरासक्त, उदासीन, आकाररहित, शुद्ध, आकाश की तरह व्यापक है। यदि तुम्हारा पक्षपाती हरि इससे भिन्न है तो निश्चित ही वह शरीरधारी होने के कारण अनित्य और सीमित देश से सम्बन्ध रखने के कारण अव्यापक है। और यदि ऐसे ही की उपासना करनी है, तो मैंने क्या अपराध किया है? जो मुझे नहीं भजते?

प्रह्लादः—

सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति यदुदये दृश्यधीरस्तमेति
स्वप्नो यद्वत्प्रबोधि विलसति च यदज्ञानतो विश्वमेतत्।
रज्ज्वज्ञानादिवाहिर्यदपि सवितृवत् साक्षितां यातमेव
ज्योतिर्नारायणाख्यं तदनु भगवतो नित्यमन्तः स्मरामि॥ १५॥

सान्द्रानन्दमिति—सान्द्रानन्दं घनानन्दं यद् ब्रह्म अन्तः सर्वस्यान्तरात्मनि स्फुरति सञ्चरति। यदुदये यस्योदये दृश्यधीः दृश्यानां पदार्थानां धीः बुद्धिः यदार्थान्तरस्मृतिरित्यर्थः। अस्तमेति नश्यति। हृदि यदुदयानन्तरं वस्त्वन्तरप्रतीतिरेव न भवतीत्यर्थः। यद् वत् यथा प्रबोधे जागरणकाले स्वप्नोऽस्तमेति किञ्च रज्जोः अज्ञानात् यथा अहिः प्रतीयते, तथैव यस्य ब्रह्मणः अज्ञानतः एव एतत् विश्वं दृश्यमिदं जगत् विलसति विराजते स्फुरतीत्यर्थः। यदाह श्रीशङ्कराचार्यः 'यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे।' यदपि यच्चापि ब्रह्म सवितृवत् सूर्यवत् साक्षितां साक्षात्सर्वद्रष्टृतां सर्वावभासकत्वमिति यावत्। यातं गतम्। अहं तु नित्यं सततं तदेव अनु सर्वानुगतं नारायणाख्यं ज्योतिः अन्तः स्वात्मनि स्मरामि।

प्रह्लाद—जो सबकी अन्तरात्मा में आनन्दरूप से स्फुरित होता रहता है, जिसके उदय (ज्ञान) होने पर अन्य पदार्थों का ज्ञान ही अस्त हो जाता है। अर्थात् जिसके ज्ञान से सारा प्रपञ्च उसी प्रकार अस्त हो जाता है जैसे जागृतावस्था में स्वप्न पदार्थ; जिसके

अज्ञान से इस विश्व का उसी तरह स्फुरण होता है, जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प का, जो सूर्य के समान सबका भासक है, मैं उसी सर्वान्तर्यामी भगवान् श्री नारायणनामक ज्योति का अन्तःकरण में नित्य स्मरण किया करता हूँ ॥

छन्द—स्रग्धरा ॥ १५ ॥

अपि च—

यः स्वसङ्कल्पमणिनिर्मितानेकप्रचण्डब्रह्माण्डानेककटाहकोटिषु चिदेकरसत्वेनावस्थितोऽपि परमात्माऽम्बुदावर्तलहरितरङ्गैरर्णव इव, कटककेयूरकुण्डलादिभिः सुवर्णमिव, पन्नगनगसुरासुरादिभिरुच्चावचादियोनिभिः पृथगिवाभासते, स एव प्रकृतिमवष्टभ्य लीलया भक्तजनानुग्रहगृहीतविग्रहो वैकुण्ठकण्ठीरवः सर्वोत्कर्षेण वर्तते । यथा मण्डलीकृतमार्तण्ड एव एकदेशेऽवस्थितोऽपि विश्वं प्रकाशयति तथा यत्र येनावलोकितस्तेन तत्रैव दृश्यते तथा हरिरपि । अथ वस्तुमहिमाऽप्यलौकिक एव । यथा मूर्तयोरेव स्पर्शान्यपाषाणयोर्महिमतारतम्यं प्रत्यक्षसिद्धमेव ।

य इति—यः परमात्मा स्वसङ्कल्प एव मणिः तेन निर्मितानि रचितानि यानि प्रचण्डानि दुर्वहाणि ब्रह्माण्डमण्डलानि तान्येव कटाहाः अयोमयाः पात्रविशेषाः तेषां कोटिषु कोटिसंख्याकेषु ब्रह्माण्डेष्वित्यर्थः । चिदेकरसत्वेन ज्ञानघनत्वेन अवस्थितोऽपि यथा एकोऽपि अर्णवः सागरः, अम्बुदो मेघः, आवर्तोऽम्भसां भ्रमः, लहरिर्महातरङ्गः तरङ्गो वीचिः, एभिर्यथा पृथगिवावभासते यथा एकमपि सुवर्णं कटककेयूरकुण्डलादिभिः कङ्कणाङ्गदकुण्डलादिभिः पृथक्त्वेनावभासते द्योतते तथैवेदमेकमपि ब्रह्माण्डं पन्नगैः सर्पैः, नगैः वृक्षैः, सुरैः देवैः, असुरैः दनुजैः उच्चावचादियोनिभिः नैकविधयोनिभिरित्यर्थः । पृथगिव भिन्नमिव प्रकाशते । स एव वैकुण्ठकण्ठीरवः कदाचित् 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' इति स्मृतिमनुसरन् लीलयाऽनायासेनैव स्वामेव प्रकृतिमवष्टभ्य भक्तजनोपरि अनुग्रहेण अनुकम्पाविशेषेण स्वीकृततत्तच्छरीरः सर्वोत्कर्षेण वर्तते विजयते इत्यर्थः । यथा यद्वत् मण्डलीकृतमार्तण्डः प्रेरणादिविषयका कृपाऽत्र मानम् , वर्तुलीभूतं सूर्यबिम्बम् एकदेशे एकस्मिन् स्थाने अवस्थितोऽपि स्थितमपि सकलं जगत् प्रकाशयति तथा किंच यत्र येन अवलोकितः तत्रैव तेन दृश्यते, तथा तथैव हरिरपि वैकुण्ठकण्ठीरवोऽपि सर्वत्रैव वर्तते । अथ अथ च वस्तुमहिमा अपि पदार्थस्वभावातिशयोऽपि अलौकिको विलक्षणः अस्तीति शेषः । उदाहरणार्थं मूर्तयोः कठिनयोः स्थूलयोः परिच्छिन्नयोरेव वा स्पर्शान्यपाषाणयोः स्पर्शस्य (पारस इति लोके ख्यातस्य मणिभेदस्य पाषाण-

भेदस्य वा) तथा अन्यपाषाणस्य तदितरस्य पाषाणस्य महिम्नः उत्कर्षस्य तारतम्यं तरतमभावः न्यूनाधिक्यं प्रत्यक्षसिद्धमेव सर्वेषां नः लोचनगोचरमित्यर्थः ।

और भी,

जो परमात्मा अपने संकल्प-रूपी मणि से निर्मित इन अनेक विशाल ब्रह्माण्ड स्वरूप कड़ाहों में चैतन्य रूप से एक-रस रहते हुए भी सर्प, वृक्ष, देव, दानव आदि ऊँची-नीची योनियों से उसी प्रकार अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करता है, जैसे एक ही समुद्र अपने आपको मेघ, जल भँवर, एवं छोटी बड़ी तरंगों के रूप में व्यक्त करता है; जिस प्रकार एक ही सुवर्ण कङ्कण, अङ्गद, एवं कुण्टल आदि भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही अपनी प्रकृति का सहारा लेकर लीलावश भक्तजन पर अनुग्रह-विधानार्थ शरीर धारण करने वाला वैकुण्ठ लोक का सिंह सबके ऊपर है । जिस प्रकार लघु-काय मण्डलाकार मार्तण्ड सीमित देश में स्थित रहकर भी निखिल विश्व को प्रकाशित करता है, और जिस प्रकार जहाँ-कहीं भी स्थित व्यक्ति उसे अपने ही समक्ष देखता है, वही स्थिति हरि की भी है । और दो वस्तुएँ आकार में एक होने पर स्वभाव में भी एक ही हों सो आवश्यक नहीं; उनकी महिमा विलक्षण ही होती हैं । उदाहरणार्थ, स्पर्श (पारस) मणि भी एक पत्थर ही है, पर अन्य पत्थरों से उसका तारतमिक माहात्म्य प्रत्यक्ष ही सिद्ध है ।

दैत्यः—

सुतारामे ग्रामे गिरिशिरसि घोषे तरुवरे
पुरेऽरण्ये गण्ये वसति ननु यस्मिन्निलयने ।
श्मशाने वा चैत्ये दृषदि च तडागे वसति वा
हरिस्ते कुत्रास्ते वद सपदि तस्याधिवसतिम् ॥ १६ ॥

सुताराम इति--हे सुत ! पुत्र प्रह्लाद ! स तवाभीष्टो देवो हरिः श्रीविष्णुः कुत्र क्व आस्ते तिष्ठति सपदि शीघ्रमेव तस्याधिवसतिम् अधिष्ठानं वद कथय । स ते हरिः किम् आरामे उपवने, ग्रामे कस्मिंश्चिद् ग्रामविशेषे, तरुवरे अश्वत्थादिभेदे कस्मिंश्चिद् वृक्षश्रेष्ठे, गिरिशिरसि अथवा कस्यचिद् गिरेः पर्वतविशेषस्य शिखरे, कस्मिंश्चिद् घोषे आभीरपल्ल्याम् 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । पुरे महानगरे इत्यर्थः । अरण्ये वने, अथवा गण्ये श्रेष्ठे कस्मिन्निलयने (निलीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या) श्मशाने शवदाहस्थाने, चैत्ये देवस्थाने यज्ञमन्दिरे वा । 'चैत्यो देवस्थाने यज्ञस्थाने देवतरौ देवावासे इत्यादि' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । दृषदि पाषाणे तडागे जलाशये वा वसति । अत्र वसतीति पदं सर्वत्र सम्बध्यते ।

दैत्यः—हे सुत ! तुम्हारा वह उपास्य हरि कहाँ रहता है ? शीघ्र उसका निवास-स्थान बताओ । क्या वह तुम्हारा आराधनीय उद्यान में रहता है अथवा ग्राम में, अथवा पर्वत के शिखर पर, अथवा आभीरों की बस्ती में, अथवा किसी महानगर में रहता है, अथवा वनप्रान्त

में, अथवा किसी श्रेष्ठ श्मशान में, या देवस्थान में, या किसी शिला-खण्ड में, अथवा जलाशय में ?

छन्द—शिखरिणी है ॥ १६ ॥

प्रह्लादः—

पृथ्व्यां पाथसि पावके च पवने दिक्ष्वन्तरिक्षे पुनर्
मार्तण्डे शशिमण्डलेऽस्ति सुतले यश्चेतनेऽचेतने ।
अस्त्यन्तर्बहिरस्त्यनन्तविभवो भावेष्वभावेऽपि वा
सर्वत्रास्ति सदास्ति किं बहुगिरा त्वय्यस्ति मय्यस्ति च ॥ १७ ॥

पृथ्व्यामिति—अनन्तविभवः अनन्तसामर्थ्यः स विष्णुः पृथ्व्याम् अवनौ, पाथसि जले, पावकेऽग्नौ, पवने वायौ, दिक्षु काष्ठासु, अन्तरिक्षे द्यावापृथिव्योरन्तरे, मार्तण्डे सूर्ये, शशिमण्डले चन्द्रमसि, सुतले नागलोकप्रभेदे, 'सुतलः इति नागलोकप्रभेदेऽट्टालिकाबन्धे च' इति शब्दार्थचिन्तामणिः, इत्यादि सर्वेष्वपि स्थानेषु वर्तते । किं च स विष्णुः चेतने प्राणभृति अचेतने जडेऽपि जगति अन्तः सर्वस्यान्तरात्मनि बहिः बाह्यप्रदेशे चास्ति । भावे पदार्थमात्रे स तिष्ठति द्रव्यादिषट्कभिन्नेऽपि च स वर्तते एव । स सर्वदा सर्वस्मिन् काले सर्वत्र च सर्वस्मिन्देशे च वर्तते । किं बहूक्तेन स त्वय्यप्यस्ति मय्यप्यस्ति ।

प्रह्लाद —

वह असीम वैभवसम्पन्न विष्णुतत्त्व सर्वत्र सदा विराजमान रहता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, दिशा, आकाश एवं भूलोक के मध्य, सूर्य, चन्द्रमा, नागलोक, चेतन, अचेतन, बाहर, भीतर, भाव, अभाव इत्यादि सभी स्थानों में रमा हुआ है । अधिक क्या कहें, वह तुम में और मुझ में भी व्याप्त है ।

छन्द—शार्दूलविक्रीडित ॥ १७ ॥

यदि देहिनोऽपि विष्णोः सर्वगतत्वं मृषा ब्रूषे ।
तदसावति जडबुद्धे सदसः स्तम्भे न दृश्यते कस्मात् ॥१८॥

यदीति—यदि देहिनः देहधारिणोऽपि विष्णोः मृषा मिथ्याभूतं सर्वगतत्वं सर्वव्यापकत्वं ब्रूषे तत् तर्हि अतिजडबुद्धे ? हे मन्दप्रज्ञ ? असौ हरिः सदसः सभायाः स्तम्भे स्कम्भे कस्मात् कुतः न दृश्यते । अतः तस्य सर्वव्यापकत्वं त्वदुक्तं मृषा मिथ्यैवास्ति । देहधारित्वं सर्वव्यापकत्वं चेत्युभयं विप्रतिषिद्धमेतत् 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः', 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादि श्रुत्या तस्य देहप्रतिषेधात् ।

दैत्य—

यदि शरीरधारी विष्णु की तुम सर्वव्यापकता स्वीकार रहे हो, तो अरे मूर्ख ! यह तो

बता कि वह इस सभा के स्तम्भ में क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? और यदि नहीं दिखाई पड़ता तो निश्चय ही तुम्हारी बताई हुई सर्वव्यापकता असत्य ही है। और यह बिलकुल स्पष्ट है कि जो देहधारी होगा वह सीमित देश में ही रह सकता है; उसकी सर्वव्यापकता कैसी ? यदि मूर्त पदार्थ सर्वव्यापक हो जाय, तब तो समझना यह चाहिए कि उस व्यापक तत्त्व के अतिरिक्त स्थानाभाववश और कोई है ही नहीं।

छन्दः—आर्या (उपगीति) ॥ १८ ॥

प्रह्लादः—

अस्त्येव वस्तुजाते नास्त्यस्मिन् संशयोऽणुमात्रोऽपि ।
यो यत्र स्मरति हरिं स तत्र पश्यत्यवश्यममुम् ॥ १९ ॥

अस्त्येवेति—स ममाभीष्टो हरिः वस्तुजाते सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि अस्ति। अस्मिन् अत्र विषये अणुमात्रोऽपि स्वल्पोऽपि संशयः सन्देहो नास्ति। यः यत्रापि हरिं स्मरति स तत्रैव अवश्यमेव अमुं हरिं पश्यति। 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति' इति गीतास्मरणात्।

प्रह्लाद—

मेरा वह वाञ्छनीय प्रभु सब वस्तुओं में है ही—इसमें अणु-मात्र भी संशय नहीं है। जो जहां भी उसका स्मरण करता है वह वहीं उसे देखता है।

छंदः—आर्या ॥ १९ ॥

ततः सुररिपुरपि स्फुरितगुरुतरकरालकरकलितकरालकरवालः कोपकृशानुकलुषितनयनः शयननिलीनभोगः पदाहतिक्षोभितः भुजङ्ग इव कल्पान्तकालकलितकलेवरोऽपरः कृतान्त इव श्रवणकटुपटुतरबहुवचनरचनासंभूतसंरम्भारम्भः स्तम्भं बिभेद ।

तत इति—ततः तदनन्तरं स्फुरितः स्पन्दितः गुरुतरः अतिशयगुरुकः करालः भयानकः च यः करः पाणिः तत्र कलितः धारितः करालः भयानकः करवालः असिः येन सः, कोपः क्रोध एव कृशानुः अग्निः तेन कलुषिते रक्ते नयने नेत्रे यस्य सः सुररिपुः दैत्योऽपि शयनेन स्वापेन निलीनः अन्तर्हितः भोगः फणा यस्य सः पदाहत्या पादाघातेन क्षोभित उद्वेजितः भुजङ्गः सर्प इव, कल्पान्तकाले प्रलयावस्थायां कलितं धारितं कलेवरं देहो येन स अपरः कृतान्त इव प्रतिकूलतया श्रवणकटूनां श्रोत्रविदारकाणां पटुतराणाम् उपपत्त्या प्रौढानां बहुवचनानां प्रह्लादोक्तबहुवाक्यानां रचनायाः सम्भूत उद्भूतः संरम्भारम्भः क्रोधारम्भो यस्य स एतादृशः सन् स्तम्भं स्कम्भं बिभेद विदारयामास ।

इति श्रीनिसिंहचम्पूकाव्ये द्वितीयोच्छ्वासः ।

इसके अनन्तर उस मुरारि ने सामने खड़े स्तम्भ को खण्ड खण्ड कर ही डाला जिसने अपनी फड़कती हुई विशाल एवं क्रूरतर भुजाओं में कराल करवाल धारण कर रक्खा था, जिसकी आँखों से क्रोधाग्नि बरस रही थी। इस अवसर पर उसकी, शरीर को समेट कर सोनेवाले उस काले नाग की स्थिति थी, जो लात मार कर जगा दिया गया हो अथवा उस यमराज की सी थी, जो प्रलयकाल में मूर्तिमान् हो उठा हो। वास्तव में इस समय हिरण्यकशिपु को जो क्रोध का इतना नवदम्य वेग हो आया था, वह प्रह्लाद की कर्ण कटु तथा पिता को निरुत्तर कर देने वाली युक्तिगर्भ वाक्य-रचना का परिणाम था।

द्वितीय उच्छ्वास समाप्त

अथ तृतीयोच्छ्वासः

अथ रसप्रसङ्गः। तत्रादौ भयानकः।

'ते स्युः क्रमादिह भयानकरौद्रवीरे'त्यादिना प्रथम उच्छ्वासे तावद् भयानकादीनां सर्वेषां नवविधानां रसानां निरूपणप्रस्तावोऽभिहितः। तदनुसारमिदानीमिह तृतीये उच्छ्वासे तान्निरूपयति। तत्र प्रथमं भयानकमाह—

यहाँ से रस-प्रसङ्ग आरम्भ किया जा रहा है। सबसे पहले भयानक रस की ही चर्चा उठाई जा रही है। भयानक का वर्णन कर रहे हैं—

> भ्राम्यद्भ्रूभागभीमः खरतरखदिराङ्गारघोरायताक्षः
> कल्पान्तोद्दामविद्युत्प्रचुररसनया सृक्किणी लेलिहानः।
> स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिफणाफूत्कृतित्रस्तशत्रुर्
> दंष्ट्रादुर्धर्षवक्त्रो हरिरसुरसभास्तम्भ आविर्बभूव॥ १॥

भ्राम्यदिति—भ्राम्यद्भ्रूभागभीमः भ्राम्यश्चासौ भ्रूभागः भ्राम्यद्भ्रूभागः तेन भीमः भयानकः, खरतरखदिराङ्गारघोरायताक्षः खरतरः तीव्रतरः स खदिराङ्गारः खदिरः वक्रकण्टः 'खदिरो वक्रकण्टः' इति कोषः। तस्याङ्गारवत् निर्धूमाग्निपिण्डवत्। घोरे भयानके दुर्दर्श इत्यर्थः, आयते विशाले दीर्घे अक्षिणी लोचने यस्य सः। कल्पान्तोद्दामविद्युत्प्रचुररसनया कल्पान्ते प्रलये उद्दामा दाम्न उद्गता अतिचञ्चलेति यावत् या विद्युत् सौदामिनी तद्वत् प्रचुरया विपुलया रसनया जिह्वया सृक्किणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानः स्वदन्। स्फारोद्यत्सिंहनादस्फुरितफणिफणाफूत्कृतित्रस्तशत्रुः—स्फारेण विकटेन उद्यता उद्गच्छता सिंहनादेन पञ्चास्यगर्जनेन स्फुरितानां कम्पितानां फणिफणानां शेषफणसहस्रस्य या फूत्कृतयस्ताभिः त्रस्तो भीतः

शत्रुर्हिरण्यकशिपुसंज्ञो यस्य स तथा। दंष्ट्रादुर्धर्षवक्त्रः दंष्ट्राभिः दन्तैः दुर्धर्षं दुरालम्भं वक्त्रं मुखं यस्य सः। हरिः विष्णुः असुराणां सभायाः परिषदः दैत्यगोष्ठीभवनस्येत्यर्थः। स्तम्भे स्कम्भे आविर्बभूव प्रादुरासीत्। तत्र ददृशे इत्यर्थः। 'स्फारो विपुले विकटे' इति शब्दार्थचिन्तामणिः। 'अङ्गारो निर्धूमाग्निपिण्डे' इति च। सर्वत्र हरिरस्ति इति प्रागुक्तप्रह्लादप्रतिज्ञामुपश्रुत्य 'सदसः स्तम्भे न दृश्यते कस्मात्' इति हिरण्यकशिपुकृताक्षेपपरिहाराय स्तम्भादेवाविर्भूतो हरिः सर्वैर्ददृशे इति भावः।

[फिर क्या, खम्भ के फटते ही, शीघ्र ही] वह हरि सुरारि के सभा–स्तम्भ को विदीर्ण करता बाहर निकल आया, जो वक्राकार घूमती हुई भौंहों के कारण अत्यन्त भयानक जान पड़ रहा था, जिसकी विशाल आँखें जोरदार लहकते हुए खदिर के अङ्गारे की सी दहक रही थीं, जो प्रलयकालीन चञ्चल एवं कराल विद्युत् की भाँति लपलपाती हुई जिह्वा से गलफड़ों को चाट रहा था, जिसने अपने विकराल सिंहनाद से शेषनाग को भी ऐसा थर्रा दिया कि वह भी भय के वश भीषण फूत्कार करने लगा। फूत्कार भी वह ऐसी थी, जिससे हिरण्यकशिपु त्रस्त होता जा रहा था; इतना ही नहीं दाँतों को देखते हुए उसका वक्त्र अत्यन्त-दुर्धर्ष जान पड़ रहा था॥

छन्द—स्रग्धरा SSS SIS SII III ISSI SS ISS ॥ १ ॥

अपि च—

उद्यद्वैकुण्ठकण्ठीरवकठिनतराखण्डचण्डाट्टहासं
त्रासादासाद्य सद्यो गलितनिगडितं धावदैरावतस्य।
दानाम्भो दैवमम्भो दशनरुचिरथोद्दामसौदामिनीयं
ग्रीष्मोऽप्याडम्बरं यन्नभसि तदभवद् गर्जितस्योर्जितं च ॥ २ ॥

उद्यदिति—हरेः दैत्यगोष्ठीभवनस्तम्भाविर्भावानन्तरं कस्य किं वृत्तमभवदिति कतिपयैः पद्यैस्तदेव दर्शयति। उद्यत उद्गच्छतः, सभास्तम्भे दृश्यमानस्येत्यर्थः, वैकुण्ठकण्ठीरवस्य वैकुण्ठः विष्णुः स एव कण्ठीरवः पञ्चास्यः तस्य नृसिंहरूपस्य विष्णोः कठिनतरः क्रूरतरः अखण्डः निरन्तरः चण्डः प्रचण्डः य अट्टहासः महाहासः तमासाद्य प्राप्य श्रुत्वेति यावत्। त्रासात्सद्यः सपदि गलितं भयजनितकार्श्येन स्वयमेव निवृत्तं निगडितं बन्धनं यस्मिन्कर्मणि तत् इति धावनक्रियाविशेषणम्। निगडितमिति निगडयतेः करणार्थे नामधातोर्भावे क्तः। धावदैरावतस्य धावंश्चासौ ऐरावतः इति तस्य अभिधावतः ऐरावतस्य सुरकुञ्जरस्य यद् दानवरणमभूत् तदेव भूयस्त्वात् पर्जन्यवर्षणमभवत्। अथ किं च तस्यैरावतस्य दशनरुचिः दन्तकान्तिः उद्दामा प्रचण्डा चासौ सौदामिनी विद्युत् अभवत्। ग्रीष्मे निदाघर्तावपि नभसि अन्तरिक्षे यदाऽम्बरे घनरवोऽभवत् तत्तु गर्जितस्य ऐरावत-

चीत्कारस्य उर्जितं घृष्टिरेवाभूदिति तात्पर्यम् । 'विद्युत् सौदामिनी तडित्' इति कोषः । आडम्बरम् घनगर्जितम् । 'दर्पे दर्पे तूर्यस्वने आरम्भे घनगर्जिते आडम्बरम्' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'गर्जितं वारिवाहादिध्वनौ मत्तकुञ्जरे' इति मेदिनी ।

खम्भे को फाड़कर निकलते हुए उस विष्णु-सिंह के क्रूर एवं कराल अट्टहास को सुनकर स्वर्गस्थ ऐरावत व्रस्त हो उठा और इसीलिए शीघ्र ही चीत्कार करता हुआ भाग चला । भागते समय उस ग्रीष्मकाल में भी जो धारा-प्रवाह मदधारा बरस चली, वह वर्षाकालीन वृष्टि-सी जान पड़ी । कभी कभी जो उसके दाँतों की चमक होती, सो प्रायः बिजली की सी लगने लगी और उस समय गगन में जो मेघनाद सुनाई पड़ता वह असल में ऐरावत के गर्जित का ही एक ओजस्वी रूप था ॥

छन्द— SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ २ ॥

आटोपोत्कटकोटिदुर्घटसटासंघट्टसंस्फोटित-
ब्रह्माण्डोदररन्ध्रतामुपगतस्तारागणोऽयं हरेः ।
नो चेदावरणोदकं यदमितं मेघच्छलादुच्छलद्-
धारासारसमुच्चयैरतितरां केनाध्वना वर्षति ॥ ३ ॥

आटोपेति—यथा अण्डभेदानन्तरं तत्स्थं जलं छिद्रतः प्रस्रवति तद्वदेवेदं ब्रह्माण्डमपि हरेराविर्भावसमये तत्सटासंघट्टाद् भिन्नं तारागणरूपछिद्रतो मेघच्छलाद् वर्षतीति निरूपयति । 'हरेः नृसिंहस्य इदं सटासंघट्टान्वयि कर्तृतया आटोपेन संरम्भेण इदमपि सटासंघट्टान्वयि हेतुतया । उत्कटकोटिः तीव्रतरः दुर्घटश्च लोकैकसिंहेरसुकरः यः सटानां संघट्टः संघर्षणं तेन संस्फोटितं भिन्नं यद् ब्रह्माण्डं तस्य उदररन्ध्रतां मध्यच्छिद्रतामुपगतः प्राप्तः अयं तारागणः नक्षत्रावलिः सर्वैरस्माभिर्दृश्यते इत्यर्थः । अर्थात् हरिणा यदा क्रुद्धेन स्वसटा धृता तदैवेदं ब्रह्माण्डं भिन्नं ब्रह्माण्डभेदेनैव च इदं तारागणरूपं छिद्रं समजनि । तेभ्य एव छिद्रेभ्योऽण्डजलं मेघव्याजादुच्छलति । यद्येवमिदं ब्रह्माण्डं नैवाभेत्स्यत् तर्हि मेघच्छलात् पर्जन्यव्याजेन धारासारसमुच्चयैः राशिभिः तत्पूरकमित्यर्थः । उच्छलत् उद्गच्छत् अतितरामत्यर्थम् इदमावरणोदकमण्डाच्छादनजलं केनाध्वना केन वर्त्मना वर्षति ब्रह्माण्डमिति कर्तृपदं प्रत्यासत्तिलभ्यम् । नावर्षिष्यदित्यर्थः ।

यदि ये तारागण नृसिंह के आवेशवश विकराल अयालों के तीव्रतर एवं असाधारण संघर्ष से छिन्न ब्रह्माण्ड के छिद्र रूप में अवतीर्ण न हुए होते, तो मेघ के व्याज से धारासम्पातपूर्वक निकलती हुई अपरिमित एवं ब्रह्माण्ड को आच्छन्न करनेवाली वह अन्तर्निहित जलराशि कैसे बाहर निकल पाती ?

यहाँ कल्पना यह है कि जिस प्रकार अण्ड के भेदन से उसका अन्तर्निहित जल छिद्रों

द्वारा बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार नृसिंह की सट के संघर्ष से यदि यह ब्रह्माण्डरूप अण्ड छिन्न-भिन्न न हुआ होता, और ये तारागणरूपी छिद्र न हुए होते तो ब्रह्माण्ड का अन्तवर्ती जल आज बाहर किस रास्ते निकलता ?

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

चण्डाडम्बरभृड्डमड्डमरुकध्वानावधानाकुला
क्षुभ्यद्भीषणभूरिभैरवरवैरुद्भीपिता द्यौरपि ।
खेलत्खेचरयोगिनी कलकलद्वेतालकोलाहलैः
स्वं गर्भं विससर्ज तर्जितमतिस्ताराप्रपातच्छलात् ॥ ४ ॥

हरेराविर्भावे सति हिरण्यकशिपुनिधनसूचकं ताराप्रपातरूपमुत्पातं वर्णयति—चण्डेति—चण्डं प्रचण्डम् आडम्बरं विस्तारं बिभर्तीति चण्डाडम्बरभृत्। इदं ध्वान-विशेषणम्। स च डमडित्याख्यो डमरुकध्वानः। डमरुकं वाद्यविशेषः। तस्य ध्वानेन शब्देन आकुला व्याकुला उद्विग्ना इत्यर्थः। क्षुभ्यन्तो ये भीषणाः भयानकाकाराः भूरयः प्रचुरा भैरवाः शङ्करावतारभेदाः तेषां रवैः शब्दैः उद्भीपिता उद्वेजिताः, खेलन्त्यः क्रीडन्त्य खेचर्यः (खे आकाशे चरन्तीति) योगिन्यः तासां तथा कलकलन्तः कलमव्यक्त शब्दं कलन्तः कुर्वन्तः ये वेतालाः शिवानुचराः तेषां कोलाहलैस्तर्जिता मतिः यस्याः सा द्यौरपि द्युलोकोऽपि ताराप्रपातच्छलात् नक्षत्रनिपातव्याजेन स्वं गर्भं विसर्ज मुमोच किमुत वाच्यं दैत्यस्त्रियः स्वं गर्भं विससर्जुरिति भावः।

नृसिंहावतार के अनन्तर हिरण्यकशिपु की मृत्यु के सूचक चिह्न का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नृसिंह-गर्जन के परिणामस्वरूप गगन से तारागण टूट टूट कर धरा पर आने लगे। उन्हें देख (कवि को) ऐसी कल्पना सूझती है कि मानों ये तारागण स्वर्गरूपी नायिका के गर्भ हों, जो भीषण रव-श्रवण के फलस्वरूप नीचे गिर पड़े हों। यह गगनरूपी नायिका डमरु के प्रचण्ड एवं व्यापक डमट्-डमड्-शब्द को सुन कर व्याकुल हो गई; सहसा में अनेक भयंकर एवं विक्षुब्ध भैरववाद्य के निनाद से पूर्णतः भीत हो उठी, आकाश में क्रीडा-परायण योगिनियों एवं कलकल करने वाले वेतालों के कोलाहल से उसकी बुद्धि अपने आपे में न रह गई। गर्भपात का कारण उस गगन-नायिका की यही स्थिति थी।

अलंकारः—कैतवापह्नुति।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS ISS SSI IS शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

अपि च—

यल्लोलकालकरवालकरालजिह्वा-
प्रोद्भूतभीतिभरभंगुरभावनेन ।

अद्यापि विद्युदपि मेचकमेघमालाम्
ईषत्प्रदर्शिततनु पुनराविशन्ती ॥ ५ ॥

यदिति । यस्य नृसिंहस्य, काल यम इव कालस्येति वा, करवाल असि तद्वत्कराला भीषणा जिह्वा इति कालकरवालकरालजिह्वा, लोला चपला चासौ कालकरवालकरालजिह्वा, तस्या प्रोद्भूत उत्पन्नो यो भीति-भर भीत्यतिशय तेन यद् भगुरभावन मेघे निलयनार्थं चकनया स्वशरीरसकोचन तेन, दृश्यन्ते हि लोके स्वल्पे आश्रये भयान्निलीयमाना चकतया स्वशरीर सकोचयन्त्य । अद्यापि अधुनापि ईषत्स्वल्प प्रदर्शिता उद्भासिता तनु स्वरूप यया सा विद्युत् तडिदपि पुन मेचकमेघमाला कृष्णजलदपङ्क्तिम् आविशन्ती प्रविशन्ती अस्माभिर्दृश्यते इति शेष । 'मेचकस्तु मयूरस्य चन्द्रकेऽश्यामले पुमान्' इति मेदिनी । 'कालो मृतौ महाकाले समये यमकृष्णयो ' इति च ।

काल के कराल करवाल की भाँति जिसकी लपलपाती हुई जिह्वा को [देख कर] विद्युत् को इस प्रकार भय का अतिरेक हो उठा कि आज भी वह [पूर्ण रूप से देर तक बाहर नहीं रह पाती और] अपना हल्की सा झलक दिखाकर अपने [आश्रय स्वरूप] कृष्ण जलदावली में शरीर-सकोच-पूर्वक चट प्रवेश करती आती है—सारा ससार इसे देखता है ।

छन्द —SSI SII ISI ISI SS वसन्ततिलका ॥ ५ ॥

तदनु दनुजराजप्रचुरतरकरवालनिष्ठुरघातसभेदोद्भूतस्फुरत्तटतटारावगर्जितनिर्जरनिकरनिकरशमुच्चमूसमूहाद् उदयशिखरिशिखरात् खरांशुरिव उज्ज्वलतनु, अरणिमथनादग्निरिव तीव्रतर, रम्भास्तम्भात् कर्पूर इव कमनीय सुरद्विषिवेश्मनि सुरश्मिकाश्मीराश्मनिर्मितसभास्तम्भगर्भान्नरहरिराविरासीत् । तत प्रलयकालजलदपटलगर्जितविस्फूर्जितमिव भयकर, भूरिभेरीझकार इव गभीरतर, भयभरभगुरभुजगराजविलोलमौलिस्थलान्दोलितभूमण्डलोच्छलज्जलजलकल्लोलच्छलाञ्जलनिधि पुलकयन्निव चिरतरयोगनिद्रामुद्रितनयन जलशयनमकस्माज्जागरयन्निव कम्पितकैलासकेलिविलासिन पुरहरस्य सहारभ्रममुत्पादयन्निव नृसिंहनिहितसिंहनादोऽप्यखण्डब्रह्माण्डोदरमापूरयाचक्रे ।

तदविति—तदनु तदनन्तर सुरद्विषिवेश्मनि हिरण्यकशिपोर्गृहे सुरश्मिकाश्मीराश्मनिर्मितसभास्तम्भगर्भात्, सुरश्मिभि सुकान्तिभि काश्मीराश्मभि काश्मीरदशोद्भवै पाषाणै निर्मितस्य रचितस्य सभास्तम्भस्य गोष्ठीभवनस्तम्भस्य गर्भात् मध्यात् नरहरि श्रीनृसिंह आविरासीत् प्रादुर्बभूव । कीदृशात्स्तम्भादि

त्याह—दनुजेति । दनुजराजस्य हिरण्यकशिपोः प्रचुरतरा अतिबहुला ये कर-वालस्यासेः निष्ठुराघाताः प्रहाराः तेषां यः संभेदः स्तम्भे संबन्धः तस्मादुद्भूतः उत्पन्नः स्फुरन् च चलन् देशान्तरे व्याप्नुवन्निति यावत् । यः तटतटारावः तट-तटाशब्दः तेन तर्जिताः भर्त्सिताः निर्जराणां देवानां निकराः समूहाः नराणां मर्त्यानां किन्नराणां देवयोनिविशेषाणाम् असुरचमूनां राक्षसानीकिनां च समूहाः वृन्दानि येन तस्मात् । कस्मात् क इव कीदृशश्च नरसिंहः—उदयशिखरिशिखरात् उदयाचलशृङ्गात् खरांशुः सूर्य इव उज्ज्वलतनुः तेजस्विशरीरः अरणेः काष्ठ-निर्मितस्य अग्निसाधनयन्त्रस्य मथनात् संघर्षणात् अग्निः वह्निरिव तीव्रतरः प्रचण्डतरः । रम्भास्तम्भ इवेत्युपमितसमासः । तस्मात् कर्पूर इव घनसार इव कम-नीयः कान्तियुक्तः सुन्दरः । अरणिः ऋच्छति प्रापयत्यग्निमिति काष्ठनिर्मितस्या-ग्निसाधनयन्त्रस्य नामधेयम् ।

ततः—आविर्भावानन्तरं नृसिंहविहितसिंहनादः नृसिंहेन विष्णोरवतारेण नर-हरिणा विहितः कृतः सिंहनादः सिंहगर्जनमपि ब्रह्माण्डोदरं सर्वं ब्रह्माण्डमण्डल-मापूरयांचक्रे अपूरयत् । क इव कीदृशः किं कुर्वन्निवेत्याह—प्रलयेति । प्रलय-कालस्य जलदपटलस्य मेघवृन्दस्य गर्जितं ध्वान इव विस्फूर्जितं वज्रनिर्घोष इव च भयंकरः भीषणः । गर्जितान्तविस्फूर्जितयोः समाहारद्वन्द्वः । भूरीणां प्रभूतानां भेरीणां बृहड्ढक्कानां भांकार इव गभीरतरः गंभीरतरः । भांकार इति ढक्काशब्दानु-कृतिः । भयभरेति—भयभरेण भयातिशयेन भंगुराणि भज्यमानानि संकुचन्ति इति यावत् । यानि भुजगराजस्य विलोलानि मौलिस्थलानि फणासहस्रं तैः आन्दोलितं चालितं यत् भूमण्डलमवनिमण्डलं तस्मादुच्छलत् निर्गच्छत् यत् लोलं चलं जलं सलिलं तस्य कल्लोलानां तरंगाणां छलात् व्याजात् जलनिधिं सागरं पुलकयन् इव रोमाञ्चयन्निव, पुलकिनं करोतीति विग्रहे ण्यन्तात् शता । चिर-तरेण अतिचिरेण योगनिद्रया मुद्रिते निमीलिते नयने नेत्रे येन तं जलशयन-मनन्तम् (हरिं) अकस्मात् अतर्कितमित्यर्थः । जागरयन्निव निद्राक्षयं प्रापयन्निव ।

कम्पिते सिंहनादेनेति शेषः, कैलासे या केलिः सा कम्पितकैलासकेलिः । तस्याः विलासिनः विलसनशीलस्य पुरहरस्य त्रिपुरान्तकस्य हरस्य संहारभ्रमं प्रलयकालप्राप्तिसंदेहम् उत्पादयन्निव जनयन्निव । अस्मिन्प्रकरणे प्रकृताचस्यो भगवान् नरहरिर्भयानकरसस्यालम्बनविभावः, तदीया भ्रूजिह्वाचेष्टासटाब्रह्माण्ड-भेदनसिंहनादादयः उद्दीपनविभावाः, त्रस्तभुजगराजैरावतद्युविद्युत्सुरासुरज-गतोऽत्र वर्णितास्तास्ताश्चेष्टा अनुभावास्तैरभिव्यक्तं जगतो भयं स्थायिभावोऽत्र रस-रूपतया आस्वाद्यते । संचारिभावास्तु सम्भविन आश्चर्यजाड्यमूर्छादयोऽनुक्ता अपि उक्तैर्विभावादिभिराक्षिप्यन्ते इत्यवधेयम् ।

इसके पश्चात् उस मुरारि के गृह में देदीप्यमान काश्मीरी शिलाओं से बने हुए

सभा-स्तम्भ से नरहरि प्रकट हो गए । यह वही स्तम्भ था, जिस पर दनुराज हिरण्यकशिपु ने अपनी तलवार से प्रचुर एवं क्रूर वार किया था और इस वार से होने वाले विदारण के परिणाम-स्वरूप जो तड़-तड़ की ध्वनि हुई, उससे सारे देव-गण, मनुष्य किन्नर, एवं असुरों की सेना त्रस्त हो उठी । उस स्तम्भ से प्रकट होते हुए नरहरि की शोभा उदयाचल से उदित होते हुए कान्तिमान् शरीर वाले भानु की सी हुई, अथवा अरणि-मन्थन से समुद्भूत प्रचण्डतर अग्नि-ज्वाला की सी हुई, अथवा केले के स्तम्भ से जनित कमनीय कर्पूर-राशि सी हुई ।

फिर तो नृसिंह के नाद ने भी अखण्ड ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती भाग को परिपूर्ण कर दिया—अर्थात् सारा गगन थहरा दिया । प्रतीत हुआ जैसे कि वह नाद प्रलयकालीन मेघ राशि का गर्जन ही हो, अथवा वज्र का निर्घोष हो । इतना भयंकर था वह नाद इतना गम्भीरतर वह नाद था, जैसे अनेक भेरी वाद्यों का मिलित घोष हो । [इस नाद को सुनकर] भयातिरेकवश सङ्कुचित होते हुए शेषनाग का फणामण्डल कम्पित हो गया और फिर तो उसी के सहारे टिकी हुई सारी पृथ्वी झूल उठी । पृथ्वी के झूलने का फल यह हुआ कि समुद्र की क्षीर-जलमयी तरङ्गें उछल पड़ीं । उछलती हुई तरङ्गों को देखकर यह सम्भावना होने लगी मानों ये तरङ्गें समुद्र की पुण्यावली हों, जो भय के कारण सात्त्विक भाव के रूप में बाहर निकल पड़ी हों । ऐसा प्रतीत हुआ मानो यह नाद चिरकाल से योगनिद्रावश निमीलित नेत्रों वाले क्षीरशायी भगवान् को अकस्मात् जगा रहा हो अथवा ऐसा जान पड़ा कि नाद-कम्पित कैलास में क्रीडा-परायण त्रिपुरारि को प्रलयकाल के आगमन की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहा हो ।

अथ वीररसः—

> ततः स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीरं नरहरिम्
> पुनः साक्षाद्वीक्ष्यामृतमरणहेतुर्विधिवशात् ।
> स्फुरद्गर्वोत्कर्षाद् दिवि त्रिदिपदासादितगदो
> गदामादायोच्चैरवददमराराातिरचिरात् ॥ ६ ॥

तत इति—ततः तदनन्तरं विधिवशात् दैववशात् । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । दिवि त्रिदिपदासादितगदः दिवि स्वर्गे आसादितः सम्पादितः त्रिदिपदेषु गदो भयजनितज्वरादिरूपो रोगो येन सः । अमराराातिः सुरारिः हिरण्यकशिपुः स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीरं स्तम्भादुद्भूतम् उत्पन्नम् अद्भुततमं शरीरं कलेवरं यस्य तं नरहरिं नृसिंहं साक्षात् प्रत्यक्षमेव वीक्ष्य दृष्ट्वा अवदत् ।

स्फुरद्गर्वोत्कर्षात् स्फुरन् प्रादुर्भवन् यो गर्वः शौर्याभिमानस्तस्योत्कर्षात् उद्रेकात्, अचिरात् तत्कालमेव गदामादाय हरिजिघांसया गदामुद्यम्य उच्चैः तारस्वरेण पुनः अवदत् अघोषत् । पूर्वं प्रह्लादं प्रत्युक्तवान् इदानीं तु नृहरिं प्रतीति

पुनः शब्दप्रयोगः। 'गदो भ्रातरि विष्णोः स्यादामये नाऽऽयुधे गदा' इति मेदिनी। अमृतमरणहेतुरिति अमृतमेव श्रीविष्णुदर्शनमेव मरणस्य हेतुर्यस्य। श्रीविष्णुदर्शनं प्राप्य सर्वोऽपि अमृतो भवति। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादिश्रुतेः। अत्र तु विष्णुना स ह्तः सन्नमृतेति तद्विपरीतमेव जातम्।

वीररसः—

इसके पश्चात्, अदृष्टवश स्वर्ग में देवताओं को भी भीति-ज्वर उत्पन्न करने वाले उस सुरारि ने जब स्तम्भ से प्रकट अत्यन्त आश्चर्यजनक शरीर वाले नरहरि को प्रत्यक्ष देखा तब उसका अभिमान जाग उठा और उसी गर्वोद्रेक में शीघ्र ही अपनी गदा तान कर गरजते हुए स्वर में उसने कहा—[प्रस्तुत श्लोक में हिरण्यकशिपु का विशेषण बहुत ही सारगर्भ है, अतः उसकी व्याख्या स्वारस्य के उद्‌घाटनार्थ अलग से लिखी जा रही है]। हिरण्यकशिपु अमृत मरणहेतु था। अर्थात् यहाँ अमृत ही उसकी मृत्यु का कारण बना। भगवान् विष्णु स्वयं अमृत स्वरूप हैं। [अथवा उनको प्राप्त कर के लोग अमृत हो जाते हैं इसलिए औपचारिक रूप में 'आयुर्घृतम्' इत्यादि की भाँति भगवान् को अमृत कहा जा सकता है।] अस्तु। कहने का अभिप्राय यह कि जिसे प्राप्त कर के अन्य लोग अमर हो जाते हैं, उसे ही प्राप्त कर के यह मृत हो गया।

छन्दः—ISS SSS III SII SII IS शिखरिणी ॥ ६ ॥

ततः सोत्साहं हरिरपि—

किं नासन् भ्रातृपूर्वास्तव दनुज पुरा ये पुरारेरशक्यास्
तेषां दोर्दण्डकण्डूर्न किमु शममिता मत्प्रतापानलेन ।
तत्र त्वं भोः कियान् वा कथय कथमथ प्राणनं तेऽखिगर्वं
सर्वं सर्वं सभायां प्रथयसि भुजयोः किं मृषा भाषणेन ॥ ७ ॥

किं नासन्निति—हे दनुज ! हे दानव पुरा प्राक्काले ये पुरारेः शिवस्यापि अशक्याः धर्षयितुमशक्या इति यावत्। तव भ्रातृपूर्वाः तव भ्राता हिरण्याक्षः पूर्वः आदिर्येषां ते तथा। हिरण्याक्षादय इति यावत्। न आसन्? आसन्नेवेत्यर्थः। किं तेषां हिरण्याक्षादिदैत्यानां दोर्दण्डकण्डूः भुजदण्डकण्डूयनं मम प्रतापवह्निना न शमं शान्तिमिता प्राप्ता। अर्थात् किं त्वमेतत्सर्वं नाभिजानासि यत् त्वत्तोपि अधिकवीर्यशालिनः पूर्वमपि नैकधा समभूवन् तेषां च कण्डूशमनार्थं तत्तत्काले मयैव मर्त्यलोके अवतीर्णम्। तत्र तेषां मध्ये भोः त्वं कथय कियान् वा कियानेवासि तव का क्षमता। अथ यदि त्वं तेभ्योऽपि वली तदेति शेषः। ते तव अतिगार्वं यथा स्यात्तथा कथं सर्वं परिपूर्णं प्राणनं जीवनं वर्तते। यदि त्वं तेभ्योऽपि वली स्यास्तदा पूर्वमेव हतः स्या इति न तव सर्वं जीवनं स्यादिति भावः। सभायाम् अस्यां संसदि भुजयोः स्वबाह्वोः सर्वं सकलं वीर्यादिकं प्रथयसि विस्तारयसि

उद्घोषयसि एतेन मृषा मिथ्याभाषणेन किम् ? न किंचित् प्रयोजनं साधयितुं शक्यमिति भावः ।

दैत्यः—

कि भीषणेन वपुषा किमु गर्जितेन
कि वल्गितेन किमनेन बिभेति वीरः ।
किं श्वापदानि न वसन्ति गिरेर्दरीषु
कि तैर्गिरिर्गुरुभयं समुपैति सिंह ॥ ८ ॥

किमिति—हे सिंह ? हे नृसिंह ? अनेन ते भीषणेन भयजनकेन वपुषा देहेन किम् ? न किंचित्साध्यमित्यर्थः । एतेन ते गर्जितेन किम् ? अनेन ते वल्गितेन बहुभाषितेन किं, मादृशो वीरः अनेन सर्वेण प्रागुक्तेन बिभेति किं नेत्यर्थः । किं गिरेः पर्वतस्य दरीषु गुहासु श्वापदानि हिंस्रपशवो व्याघ्रा वा न वसन्ति ? वसन्त्येवेत्यर्थः । तथापि किं तैः, गिरिदरीमाश्रितैः श्वापदैः न किंचित्साध्यमित्यर्थः । एतदेवोपपादयति—गिरिर्गुरुभयं समुपैति । इद काकुवाक्यम् । ततश्च तेभ्योऽपि गिरिः गुरुभयं न समुपैतीत्यर्थो लभ्यते ।

दैत्य ने कहा—

यह क्या भीषण आकार दिखा रहे हो ? इस तुम्हारे गर्जन से क्या होना है ? तुम्हारी यह बकवाद निरर्थक है ? हे सिंह ! क्या मेरे जैसा वीर इन सब आडम्बरों से डर जायगा ? पर्वत की गुफाओं में क्या बड़े-बड़े हिंस्र जन्तु निवास नहीं करते ? तो पर्वत उनसे डर जाता है क्या ?

छन्द—SSS SIS SI III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ७ ॥

तदनन्तर उत्साह में झूमते हुए उस दानव को हरि ने भी कहा—

हे दानव ! महाकाल शिव भी जिनका कुछ न बिगाड़ पाये थे, उन हिरण्याक्ष जैसे महादानवों से अतीत सुना है ? क्या उनकी भुजाओं की खुजलाहट मेरी प्रतापाग्नि से नहीं भुलस दी गई ? तो अब वैसे वैसे दानवों का सर्वनाश हो गया, तो उनके बीच तुम्हारा क्या गणना है ? बोलो ! यह तुम्हारा जीवन फिर इतना गर्वमय क्यों हो रहा है ? अपनी भुजा का बल सभा में [क्या] बघार रहे हो ? इस व्यर्थ बकवाद से क्या होना जाना है ?

छन्द—SSI SI ISI ISI SS वसन्ततिलका ॥ ८ ॥

अपि च—

युष्मत्खड्गस्य तेदण्य परिणमति सभास्तम्भसंभेदहेतोः
दोर्वीर्यं लोकशोकप्रथितमथ बलं बालघातैकगम्यम् ।
रे ! स्यात्मानं निजानन्नपि वहसि मया यत्कृतान्तेन सार्धं
स्पर्धां तस्मात्त्वदन्यो ननु दनुजकुले नास्ति निद्रानशूरः ॥९॥

युष्मदिति—किं च हे दानव ? युष्माकं त्वद्वर्ग्याणां खड्गस्य असेः तैक्ष्ण्यं निशितत्वं सभास्तम्भसम्भेदायैव परिणमति फलति। अत्र सम्यग्भेदनं सम्भेद इति योगार्थो निवक्षितो न तु सम्भेदो मेलनम्। त्वद्विधानामसुराणाम् आयुधानि केवलं सभास्तम्भायैव भेत्तुमर्हन्ति, युस्माकं दोष्णां भुजानां वीर्यं पराक्रमः लोक-शोकप्रथितं लोकानाम् अनागसां मर्त्यानां शोकाय शोकनिमित्तं प्रथितं ख्यातम-स्ति। अथ अथ च युष्माकं शारीरं बलं बालघातेन एकेन एकया बालहत्यया एव गम्यं विज्ञेयं वर्तते। असमर्था एव बालेभ्योऽपि बिभीय तद्धत्यां कुर्वते इति भावः। रे नीच ? स्वात्मानं स्वसामर्थ्यमित्यर्थः। विजानन्नपि विदन्नपि त्वं यत् यस्मात् मया कृतान्तेन यमेन सार्धं सह स्पर्धां सङ्घर्षं वहसि तस्मात् ततः कारणात् मन्ये दनुजकुले दानवान्ववाये त्वदन्यः त्वदृते कश्चिदपि विज्ञानशूरः ज्ञानपण्डितः नास्ति इत्युपहासः।

और भी—

हे दानव ! तुम्हारे वर्ग वालों की खड्गशक्ति का अवसान सभास्तम्भ के विदारण में होता है। अर्थात् तुम लोगों की शक्ति इतना ही कर सकती है। तुम लोगों की शक्ति की प्रसिद्धि इसी बात में है, कि वह निरपराधों को शोक-व्यथा-उत्पन्न करती है। एक बालक की हत्या से ही तुम लोगों के बल का पता चल जाता है। तुम्हारे पास इतनी ही शक्ति है कि एक बालक की हत्या कर सको। सारांश यह कि बालक से भी डरते हो, तभी तो शङ्कित होकर उसे मारना चाहते हो। इस प्रकार अपने आप को अच्छी तरह समझते हुए भी जो मेरे जैसे महाकाल से स्पर्धा कर रहे हो, तो इससे व्यक्त है कि इस दानवकुल में तुमसे बढ़कर कोई पण्डित नहीं हुआ ?

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥

हरेरुदारां गिरमाकलय्य रूपं च तस्योग्रतरं निरीक्ष्य।
गदां विसृज्याथ सुरारिवर्यः कृपाणपाणिः पुनराजगाम ॥ १० ॥

हरेरिति—ततः सुरारिवर्यः हिरण्यकशिपुः हरेः विष्णोः उदारामर्थमहतीं गिरं वाणीमाकलय्य श्रुत्वा तस्य उग्रतरमतिभयावहं रूपं च निरीक्ष्य वीक्ष्य अथानन्तरं गदां विसृज्य त्यक्त्वा कृपाणपाणिः कृपाणः पाणौ यस्य स सन् पुनराजगाम हरेरग्रे युद्धार्थमागमत्। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणिशब्दस्य परनिपातः।

इसके बाद वह दानवराज भगवान् की इस अर्थगर्भ वाणी को सुन कर और उनके भयंकर रूप को देख कर गदा को एक तरफ रख तलवार हाथ में ले युद्ध के लिए संमुख आ डटा।

छन्दः—ISI SSI ISI SS उपेन्द्रवज्रा ॥ १० ॥

युद्धाटोपचपेटपाटिततनुं त्रुट्यत्किरीटस्फुटद्-
रत्नाकीर्णरणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छाभ्रमल्लोचनम् ।
हुंकारस्फुरिताधरं श्लथकरं केशग्रहाकर्षणाद्
दैत्यं जानुयुगे दधार नृहरिः सर्पं गरुत्मानिव ॥ ११ ॥

युद्धेति—अथ नृहरिः गरुत्मान् गरुडः सर्पमिव युद्धाटोपेन संग्रामसंरम्भेण यश्चपेटस्तेन विस्तृताङ्गुलिकेन हस्तेन (चपेटा इति भाषायाम्) पाटिता लोष्टेन फलमिव विदारिता तनु शरीरं यस्य तम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । 'चपेटो विस्तृताङ्गुलिके हस्ते पुत्तलेऽपि च' इति शब्दस्तोममहानिधिः । त्रुट्यदिति—त्रुट्यतः छिद्यमानात् किरीटात् मुकुटात् स्फुटद्भिः पतद्भिः रत्नैः आकीर्णे व्याप्ते रणाङ्गणे निपतितं मूर्च्छया मोहेन भ्रमन्ती अनवस्थिते लोचने नेत्रे यस्य तम् , हुंकारेण स्फुरितोऽधरोष्ठो यस्य तम् , श्लथौ शिथिलौ करौ पाणी यस्य तं दैत्यं दानवं हिरण्यकशिपु केशग्रहाकर्षणात् केशेषु गृहीत्वा आकर्षणेनेत्यर्थः । जानुयुगे उभयोर्जान्वोर्मध्ये दधार धारयामास ।

जिस प्रकार गरुड़ सर्प को मारकर अपने चंगुल में कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंह ने भी उस हिरण्यकशिपु को बाल पकड़कर घसीट लिया और अपनी दोनों जानुओं के बीच धर दबाया, जो पहले से ही चूर-चूर किरीट से विकीर्ण होते हुए रत्नमय रणाङ्गन में मारकर गिरा दिया था, संग्राम के आवेश में चपेटों से जिसका शरीर फाड़ दिया गया था, मूर्च्छा के उद्भव से जिसकी आँखें नाच रही थीं, हुंकार मुख से बाहर नहीं निकलता था, अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिए जिसके अधरोष्ठ अभी फड़क ही रहे थे और जिसकी भुजाएँ शिथिल पड़ गई थीं ।

छन्द—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ११ ॥

ततः समन्ततः समभिव्याप्तमच्युतमच्युतमवेक्षमाणः पाणिना कृपाणमादाय त्रिदशविपक्षोऽपि मोक्षमपेक्षमाण इव अधोक्षजसमक्षमागत्य विहितगहनतरनादः सादरं हरिहरिहननाय करं व्यापारयामास । ततः समरसमारम्भसंभूतघोररभोत्साहस्फुरितप्रचण्डदोर्दण्डमण्डितप्रतापतपनतेजः प्रभाजनितातिसंगर्वेण पुरः पुरहरादिदुर्धर्षमपि गिरीशगिरिगौरवं कृतसंग्रामचापलमपि सुररिपुं पुरोऽवस्थितं मशकायमानम्मन्यमानो मनुजकेसरी पटुतरकरचपेटेन पातितवान् । ततः सायमस्तगिरेरधस्तात् पतन्तं पतङ्गमिव पुरस्तान् पतितं हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि चकर्ष ।

तत इति—ततस्तदनन्तरं त्रिदशविपक्षः दैत्यः स हिरण्यकशिपुरपि (त्रिदशानां देवानां विपक्षः शत्रुः) समन्ततः परितः समभिव्याप्तं सर्वत्र परिपूर्णम्

अच्युतम् स्वरूपच्युतिर्विक्रिया तद्रहितम् विष्णुमेव, अवेक्षमाणः परिपश्यन्, मोक्षमपवर्गमपेक्षमाणः अभिलषन्निव अधोक्षस्य श्रीविष्णोः समक्षं-प्रत्यक्षमागत्य उपगम्य पाणिना हस्तेन कृपाणमादाय असिमुद्यम्य हरेः हननाय विष्णुं हन्तुं विहितः कृतः गहनतरः गभीरतरः नादः ध्वनिः येन सः सादरं करं हस्तं व्यापारयामास चालयामास। ततस्तदनन्तरं मनुजकेसरी नृसिंहः समरस्य आयोधनस्य समारम्भे प्रारम्भे सम्भृतेन उत्पन्नेन वीररसोत्साहेन स्फुरिताभ्यां कम्पिताभ्यां प्रचण्डाभ्यां दोर्दण्डाभ्यां भुजदण्डाभ्यां मण्डितस्य अलंकृतस्य प्रतापः तपनः (सूर्य) इव तस्य तेजसः प्रभया कान्त्या जनितेन उत्पादितेन अखर्वेण गर्वेण पुरोऽवस्थितं समक्षे स्थितं पुरहरादिवत् शिवादिवत् यद्वा पुरहरादिभिरपि दुर्धर्षः दुरभिभवनीयः अमर्षः क्रोधो यस्य तं गिरीशस्य हरस्य गिरिः कैलासः तद्वद् गौरवं गरिमा यस्य तं कृतं विहितं संग्रामस्य युद्धस्य चापलं येन तं तादृशमपि सुररिपुं दैत्यं तं मशकायमानं मन्यमानः मशक इवाचरन् मशकायमानः तं मन्यमानः मशकवदाचरन्तं तं दैत्यं मन्यमानः, तं मशकाय मत्वेत्यर्थः, स विष्णुः पटुतरेण दृढतरेण करचपेटेन पातितवान् जघान। ततः तदनन्तरं सायं सायंकाले अस्तगिरेः पश्चिमाचलस्याधस्तात् पतन्तं निपतन्तं पतंगमिव सूर्यमिव 'पतंगः पक्षिसूर्ययोः' इत्यमरः। पुरस्तात् स्वाग्रे पतितं तं हिरण्यकशिपुं स्वजान्वोरुपरि चकर्ष आकृष्टवान्। 'जानुशब्दो नपुंसके पुंसि च' 'उरुजंघयोर्मध्यभागे' इति शब्दस्तोममहानिधिः। मशकायमानम् इति मशक इवाचरतीति विग्रहे 'कर्तुः क्यङ्सलोपश्च' इति क्यङ्। तस्माच्छानच्।

अत्र प्रागुक्ते संदर्भे नृसिंहदैत्यराजयोः परस्परं युद्धाय समुत्साहः स्थायिभावः। परस्परमपेक्ष्य स्वस्वाभिमुखस्थितः शत्रुः आलम्बनविभावः। तस्य शस्त्रोद्यमनभ्रमणादयोऽधिक्षेपवाक्यानि चोद्दीपनविभावाः। स्वकर्तृकाणि च तान्येवानुभावाः। 'स्तम्भोद्भूताद्भुततमशरीर'मिति आश्चर्यम्, 'स्फुरद्गर्वोत्कर्षादि'ति गर्वः, 'यत्कृतान्तेन सार्धं स्पर्धा'सीति ईर्ष्या, 'मूर्च्छाभ्रमल्लोचनमि'ति मूर्च्छा, 'प्रतापतपनतेजः—प्रभाजनिताखर्वगर्वेणे'ति पुनर्गर्वः 'पुरहरादिदुर्धर्ष'मित्यमर्षः एते संचारिभावाः। इत्थमत्र प्रागुक्तविभावादिभिरभिव्यक्त उत्साहो वीररसरूपतामापद्यमान आस्वाद्यते।

इदं चात्र न विस्मर्तव्यं यत् अत्र 'सोत्साहमि'ति स्वशब्देन स्थायिभावस्योपादानं संचारिणां च अद्भुतादीनां नौचित्यमावहति। तदुक्तं रसदोषनिरूपणावसरे साहित्यदर्पणे—'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि' इति।

इसके पश्चात्, वह सुरारि अपने स्वरूप में स्थित विष्णु को ही चारों ओर देखता हुआ मोक्ष की अभिलाषा से मानो उनके समक्ष पहुँच गया और हाथ में खड्ग लेकर विष्णु पर आक्रमण के लक्ष्य से गरजता हुआ बड़ी ऐंठ के साथ हाथ घुमाने लगा। बाद में,

युद्ध के आरम्भ होते ही उग्र वीररस का अद्भुत उत्साह उमड़ आया और इसके फलस्वरूप फटफटाती हुई प्रचण्ड भुजाओं से विभूषित जो तेज-कान्ति प्रसूत हुई, उसके कारण महान् गर्व से भरा हुआ उनके समक्ष स्थित हो गया। उस समय उसके अमर्ष की शान्ति महाकाल रुद्र के लिए भी अशक्य थी। इतना ही नहीं वह अपने में कैलास की गुरुता का अनुभव कर रहा था, उसे इतना आवेश था कि वह युद्ध चापल्य दिखाने पर उतारू हो गया था, पर इन सबके बावजूद भगवान् ने उसे मशक के समान ही समझा और दृढ़तर चपटे से उसे विदीर्ण कर डाला। फिर सायंकाल में अस्ताचल से नीचे गिरते हुए सूर्य-बिम्ब के समान सामने पड़े हुए हिरण्यकशिपु को अपनी जानुओं के ऊपर खींच लिया। अब रौद्र-परक वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

अथ रौद्र —

> क्रूरक्रोधाग्निकुण्डोज्ज्वलनयनमिलद्भ्रुकुटीर्बिभ्रदुच्चै
> खादन् दंष्ट्रास्तदुत्थप्रखरतररवो दन्तदष्टाधरोष्ठः ।
> श्वासोच्छ्वासोग्रनासः कथमथ किमिति स्पष्टवाक् स्वैर्नखाग्रैः
> सिंहास्यो दैत्यभर्तुर्भृशमुदरदरीमुद्ददारादरेण ॥ १७ ॥

क्रूरेति—सिंहास्यः नृसिंहः स विष्णुः दैत्यभर्तुः दानवाधिपस्य तस्य हिरण्यकशिपोः उदरदरीम् उदरगुहाम् आदरेण तत्परत्वेन स्वैः निजैः नखाग्रैः भृशम् अत्यर्थम् उद्ददार विदारयामास। कीदृशः सः सिंहास्यः, क्रूरेति—क्रूरो विकटो यः क्रोधाग्निः कोपवह्निः तस्य कुण्डवत् उज्ज्वलयोः प्रकाशमानयोः रक्तयोर्वा नयनयोः नेत्रयोर्मिलन्ती भ्रुकुटी (द्वितीयाद्विवचने रूपम्) उच्चैः बिभ्रत्। धारयन्। दंष्ट्राः खादन्, तदुत्थः ताभ्यः दंष्ट्राभ्यः उत्तिष्ठतीति तदुत्थः प्रखरतरः तीक्ष्णतरः रवो ध्वनिर्यस्य सः, दन्तैः दशनैः दष्टः अधरोष्ठो येन सः, श्वासोच्छ्वासाभ्यामुग्रा नासिका यस्य सः, कथं केन प्रकारेण नृसिंहो जातः किमिति कस्य हेतोः इति च स्पष्टा स्फुटा जनानां वाक् यस्मिन् (यद्विषये) सः। उद्ददार इति उदुपसर्गस्य विदारणार्थस्य 'दृ' धातोः प्रत्ययादिकस्य लिटि।

उस नरसिंह ने दैत्याधिप हिरण्यकशिपु के गुहाकार उदर को अपने नखों द्वारा बड़े अभिनिवेश पूर्वक फाड़ डाला। इस क्रिया के अवसर पर क्रूर क्रोधरूपी अग्नि के कुण्ड सी दहकती हुई आँखों की भौंहें चढ़ रही थीं, दाँत चबा रहे थे, और इस चर्वण के फलस्वरूप दाँतों से कड़र-कड़र की ध्वनि उत्पन्न हो रही थी, दाँतों से अधरोष्ठ रह-रह कर काट रहे थे, श्वास प्रश्वास से नासिका उग्र लग रही थी, उनके विषय में चारों तरफ यह जनरव मचा हुआ था कि यह क्यों पैदा हुआ ?

छन्द—[illegible] स्रग्धरा ॥ १२ ॥

अपि च—

उग्रक्रोधकृशानुधूमपटलान्यूर्ध्वं विवृद्धानि यत्
तेनासीदसितं नभोऽपि भगणस्फारस्फुलिंगावलि।
किंचिद् दग्धमधस्तदुज्ज्वलजगद्ज्वालाभिरेतज्जने
संध्याराग इति भ्रमं जनयति प्राच्यां प्रतीच्यां हरेः ॥१३॥

उग्रेति—हरेः नृसिंहस्य यत् यस्मात् उग्रः विकरालः क्रोध एव कृशानुः अग्निः तस्य धूमपटलानि ऊर्ध्वम् उपरि प्रदेशे विवृद्धानि तेन हेतुना भानां नक्षत्राणां गणाः वृन्दानि एवं स्फारा वितता स्फुलिंगावलयोऽग्निकणमाला यस्मिंस्तत् नभोऽपि गगनमपि असितं श्याममासीत्। तस्य क्रोधाग्नेरुज्ज्वलजगद्रूपाभिर्ज्वालाभिः किञ्चिदधः प्रदेशे दग्धं प्लुष्टं नभः एतज्जने अस्मिन्मर्त्यलोकवासिनि मनुष्ये प्राच्यां प्रातः वासव्यां दिशि सायं च प्रतीच्यां वारुण्यां दिशि सन्ध्यायाः रागः सन्ध्यारागः, सन्ध्याकालिकोऽरुणिमा इति भ्रमं सन्देहं जनयति। अस्माभिः प्रातःसायं सूर्योदयास्तमयवेलायां च क्षितिजेऽरुणिमा अवलोक्यते वस्तुगत्या स हरिक्रोधाग्निना दग्धस्य द्युलोकाधःप्रदेशस्य प्रकाश एव वर्तते इति उत्प्रेक्ष्यते कविना। 'भं नक्षत्रे गभस्तौ स्त्री पुंसि स्याद् भृगुनन्दन' इति मेदिनी।

और भीः—

इस (नृसिंह) की क्रोधाग्नि से उद्भूत जो धूम-पटल आकाश में जाकर छा गया था, उसने ही सारे आकाश को काला कर दिया है। साथ ही वहाँ जो तारिकाएँ दिखाई पड़ रही हैं, वह उस क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ है। सायंकाल में पश्चिम दिशा की ओर तथा प्रातः में पूर्व दिशा की ओर जो प्रकाश के रूप में सांसारिक मनुष्यों को ज्ञात होता है, वह भ्रम है। वस्तुतः क्रोधाग्नि की लपटों से जला हुआ वह आकाश का अधोभाग है।

अलङ्कारः—अपह्नुति। छंदः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १३ ॥

अपि च—

अन्याय्यं न कलेवरस्य कलयन् नैवेन्द्रियाणामपि
प्राधान्यं न हि तत्र कर्मकरणे त्वात्मा मदंशस्थितः।
सर्वानर्थपरंपरापरिणतं चित्तं भवेत् प्रायशो
मत्वैवं हृदयं ददार नृहरिर्गीर्वाणनाथद्विषः ॥ १४ ॥

अन्याय्यमिति—नृहरिः नृसिंहः गीर्वाणनाथद्विपः इन्द्ररिपोस्तस्य दानवस्य सकलेऽपि देहे केवलं हृदयमुर एव ददार विदारयामास। इतराणि सर्वाणि गात्राणि अविकलान्येव मुमोचेत्यर्थः। कस्मादेवं कृतमिति तत्र हेतुमाह—कलेवरस्य दानवशरीरस्य इदम् अन्याय्यं न्यायादपेतं कर्म न इति कलयन् विचारयन् नृहरिः

न तद् ददार। इन्द्रियाणामपि चक्षुरादीनामक्षाणामपि इदमन्याय्यं कर्म न सम्भवतीति तान्यपि जहौ। हि यतः कलेवरे इन्द्रियेषु च स्वस्वकर्मकरणे प्राधान्यं न वर्तते। मनःपरतन्त्राणि हि करणानि कर्म कुर्वन्ति। आत्मा तु मदंशः स्थितः जीवरूपेण ममैवांशः स्थितः। अतः सोऽपि तस्मिन् कर्मकरणे जघन्यकृत्यक्रियायां कथमपि न वर्तते असङ्गत्वादिति भावः। एवमस्याप्यात्मनः तत्र प्राधान्यं न हि वर्तते इति तमपि मुमोच। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इति स्मृतिः। प्रायशः बाहुल्येन इदं चित्तमेव सर्वेषामनर्थानामकर्मणां या परम्परा तद्रूपेण परिणतं वृद्धिं प्राप्तं भवत् स्यादिति मत्वा ज्ञात्वा तदेव हृदयं विदारयामासेति भावः।

और भी—

भगवान् नृहरि ने उस दानवराज के हृदय का विदारण यही समझ कर किया कि अविवेक यह चित्त (हृदय) ही सब प्रकार की अनर्थ-परम्पराओं से भरा हुआ है। मस्तक-पोटन एक अनुचित कर्म है और इस कर्म में शरीर का कोई हाथ नहीं। इन्द्रियाँ भी पराधीन ही हैं, अतः इन का भी दोष नहीं। सारे कर्मों में वे मन से प्रेरणा पाकर ही प्रवृत्त होती हैं, और आत्मा तो हमारा ही अंश है, अतः उसका कर्म से क्या सबन्ध?

अलंकार—हेतूत्प्रेक्षा। छन्द—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम्॥१४॥

अपि च—

प्रज्वलत्क्रोधकृशानुकुण्डे इव चण्डनयने विधाय दीर्घतरदनुजदेहं हविरिव स्वाहाकारमिव हाहाकारमुच्चारयतो महर्षीन् ऋत्विज इव तदधिष्ठातृदेवताः संतर्पयन्निव अध्वरहिंसायाः वेदबोधितधर्मसाधनत्वमवधारयन्निव धर्मानुच्छेदपरो भगवान् दीक्षितत्वमङ्गीचकार।

प्रभान्विति—धर्मस्य 'श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यत् स धर्मः' इत्युक्तस्य श्रौतस्य स्मार्तस्य च कर्तव्यकर्मणः अनुच्छेदः संस्थापने परः तत्परः भगवान् श्रीविष्णुः प्रज्वलतः दह्यमानस्य क्रोधकृशानोः कोपवह्नेः कुण्डे इव, कुण्डं होमाधिकरणं गर्तविशेषः तदिव चण्डनयने प्रचण्डनेत्रे विधाय, तत्र दीर्घतरमायतं दनुजदेहं दानवकायं हविरिव विधाय सान्नाय्यमिव कृत्वा 'सान्नाय्यं हविरग्नौ तु हुतं त्रिषु वषट्कृतम्' इत्यमरः। स्वाहाकारमिव हिरण्यकशिपोरत्याचारेण हाहाकारमुच्चारयतो महर्षीन् ऋत्विज इव याजकान् कृत्वा 'आग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च ते' इत्यमरः। तदधिष्ठातृदेवताः यज्ञाधिष्ठातृदेवताः सन्तर्पयन् प्रीणयन्निव अध्वरहिंसायाः यज्ञहिंसायाः वेदबोधितं वेदैराम्नायैर्बोधितं प्रतिपादितं धर्मसाधनत्वं धर्मोपकरणत्वमवधारयन्निव निरूपयन्निव दीक्षितत्वं दीक्षा सञ्जाता यस्य

'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' इति इतच् प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वं यागादिषु धृतनियमत्वमित्यर्थः । अङ्गीचकार स्वीचकार ।

और भीः—

उस समय ऐसा लगा मानो धर्म के संस्थापन में तत्पर रहने वाले भगवान् ने यज्ञ में दीक्षा ली हो, अर्थात् वे एक यजमान के रूप में अवतीर्ण हुए हों । इस यज्ञ में उनकी दोनों आँखें ऐसी लगती थीं जैसे प्रज्वलनशील क्रोधाग्नि के कुण्ड हों; दीर्घतर दानव की देह ही मानो हवि हो, ऋषिगण ही ऋत्विज् हों और उनका हाहाकार स्वाहाकार की ध्वनि हो । प्रतीत होता था मानो भगवान् स्वयं इस यज्ञ के अधिष्ठातृ देव को तृप्त कर रहे हों, तथा यज्ञ-संबंधिनी हिंसा को वेदबोधित होने से समर्थित कर रहे हों ।

ततः संक्षोभोद्भूतनैष्ठुर्यवशाद् दंष्ट्राखादनजातकर्कशरवेण तर्जयन्निव, लोचनार्चिषा दहन्निव, श्वासपवनैः शोषयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैराकर्षयन्निव, कुललल्लोलरसनया ग्रसन्निव, चिरतररचितापराधं दैत्याधमं खरतरनखरैर्दारितवान् ।

तत इति—ततस्तदनन्तरं स हरिः संक्षोभात् क्रोधात् उद्भूतम् उत्पन्नं यत् नैष्ठुर्यं क्रौर्यं तद्वशात्, दंष्ट्राभिः दंष्ट्राणां खादनेन भक्षणेन जात उत्पन्नः यः कर्कशः खरतरः रवः शब्दः तेन तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव, लोचनार्चिषा नेत्रज्वालया दहन् भस्मीकुर्वन्निव, श्वासपवनैः श्वासमारुतैः शोषयन् शुष्कतां नयन्निव, उच्छ्वाससमीरणैः उच्छ्वासपवनैः आकर्षयन् बलात्स्वसमीपमानयन्निव । कुललल्लोलेति—कौ पृथिव्यां ललन्ती आस्वाद्यस्वादनाय चलन्ती लोला चपला या रसना जिह्वा तया ग्रसन्निव आस्वादयन्निव, चिरतरात् बहोः कालात् रचितः कृतः अपराधो येन तं दैत्याधमं नीचं दैत्यं खरतरैः तीक्ष्णतरैः नखरैः नखैः विदारयामास ।

अत्र रौद्ररसे हिरण्यकशिपुं प्रति भगवतः क्रोधः स्थायिभावः । हिरण्यकशिपुरूपः शत्रुरालम्बनविभावः । स्वभक्तप्रह्लादं प्रति पर्वतपातनसमुद्रमज्जनाग्निदाहादिरूपास्तच्चेष्टाः स्मर्यमाणाः उद्दीपनविभावाः कल्प्याः । द्वादशश्लोकोक्तानि कर्माणि अनुभावाः । उग्रतावेगमोहमदादयश्च संचारिभावा आहार्याः । उत्प्रेक्षा चालंकारो व्यञ्जकतत्तदर्थोपस्कारद्वारोपकारकः । अत्रापि सन्दर्भे तत्र तत्र क्रोधरूपस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोल्लेखो नोचितः ।

उस अवसर पर संक्षोभ के कारण जो उनमें अत्यधिक नैष्ठुर्य की भावना जाग्रत हो गई थी, मानों उसी के परिणाम-स्वरूप दातों से दाँतों के चर्वणवश उद्भूत प्रखर ध्वनि के व्याज से उसे तर्जना दे रहे हों, नेत्र से निकलती हुई ज्वाला से उसे जला रहे हों, लम्बे लम्बे श्वासों के रूपमें प्रवाहित वायु से जैसे शुष्क बनाते जा रहे हों, उच्छ्वास की वायु से जैसे अपनी ही ओर खींच रहे हों, भूतल में आस्वाद्य के स्वादन में ललचाई

हुई चञ्चल जिह्वा से चाट रहे हों —इस प्रकार श्री नृसिंह ने चिरकाल से अपराध करने वाले उस राक्षसाधम को अपने तीक्ष्ण नखों से विदीर्ण कर डाला ।

अथ बीभत्स —

प्रखरनखराघातोद्दीर्यत्सुरान्तकवक्षस
क्षतशतगलद्रक्तोद्रिक्तैर्वसान्त्रपलास्थिभिः ।
सह कफमलैर्मज्जापुञ्जैः क्षणं परिपश्यतो
जनयतु सतां विष्णोरुद्यज्जुगुप्सितमीप्सितम् ॥ १५ ॥

प्रखरेति—प्रखराणां तीक्ष्णानां नखराणां नखानाम् आघातैः उद्दीर्यतः विदीर्यमाणस्य सुरान्तकस्य हिरण्यकशिपोः वक्षसः उरसः क्षतानां व्रणानां शतेभ्यः गलतः स्रवतः रक्तात् शोणितात् उद्रिक्तैः निर्गच्छद्भिः कफमलैः मज्जायाः सारस्य धातुविशेषस्य पुञ्जैः समूहैः च सह वसा वपा च, अन्त्रं पुरीतत् च, पलं मांसं च, अस्थि कीकसं च तेषामितरेतरयोगः तैः परिपश्यतः वीक्षमाणस्य जनस्य क्षणं स्वल्पकालम् उद्यत् प्रादुर्भवत् जुगुप्सितं जुगुप्सा यत्र तद् विष्णोः कर्मेत्यन्यपदार्थभूतं विशेष्यमध्याहार्यम् । सतां सज्जनानाम् ईप्सितं मनोरथं जनयतु पूरयतु । 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । 'कीकसं कुल्यमस्थि च' 'अन्त्रं पुरीतत्' 'सारो मज्जा' 'स्यात्पामिषे पलम्' इत्याद्यमरः ।

अब बीभत्स वर्णन उपस्थित कर रहे हैं—

विष्णु का वह (विदारण) कर्म सज्जनों के समीहित को परिपूर्ण करे, जिसे देखने वालों में जुगुप्सा की राशि अङ्कुरित एवं प्रदीप्त हो उठती है । कारण यह है कि वह कर्म देखा है, जिसमें नुकीले नखों के आघात से विदार्यमाण दानव के वक्षःस्थल में सैकड़ों घाव हो गए हैं और उन घावों से रक्त की धारा फूट पड़ी है, साथ ही रक्तस्राव के अतिरेकवश वसा, मल, मांस, अस्थि, कफ, एवं मज्जा का पुञ्ज निर्बाध बाहर चला चला आ रहा है ।

छन्द—III IIS SSS SI, IIS IS हरिणी ॥ १५ ॥

अपि च—

धिग्दुःशरीरमिदमत्र शरीरभाजाम्
ऊर्ध्वं कफं श्रवणनेत्रमलं प्रसूते ।
अन्तर्बिभर्ति रुधिरास्थिपलान्यधस्तात्
मूत्रं पुरीषमिति पातु हरेर्जुगुप्सा ॥ १६ ॥

धिगिति—अत्र लोके शरीरभाजां देहिनाम् इदम् अहो दुःशरीरं दुष्टं कलेवरं धिक् । यस्य शरीरस्योर्ध्वमुपरिभागः शिरः इत्यर्थः । मुखेन कफं प्रसूते उत्पादयति

श्रवणाभ्यां कर्णाभ्यां नेत्राभ्यां च मलं प्रसूते जनयति । अन्तश्च यो देहो रुधिरं रक्तं च, अस्थिकीकसं च, पलं मांसं च तानि बिभर्ति धारयति । अधस्तान्नाभेरधोभागे च मूत्रं पुरीषं च बिभर्ति । इति दृष्ट्वा जायमाना हरेर्विष्णोः जुगुप्सा घृणा नः सर्वान् पातु अवतु । आशिषि लोट् ।

इस संसार में शरीरधारियों के उस घृणित कलेवर को धिक्कार है, जिसका शिरोभाग मुख के रास्ते कफ फेंकता हो, श्रोत्र एवं कर्ण के द्वारा मल पैदा करता हो, अन्तर में रुधिर, अस्थि, एवं मांस धारण करता हो और जिसके अधोभाग में मूत्र एवं मल की स्थिति हो । ऐसे शरीर को देख कर उदित हुई विष्णु की जुगुप्सा हम सब की रक्षा करे ॥

छन्दः—ऽऽ। ऽ। । ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ वसन्ततिलका ॥ १६ ॥

अपि च—

दैत्यारातेर्नखेभ्यः सपदि कृतभरैः स्वीयदेहोद्गतेभ्यः
भूयो रक्ताभिषेकैरुपरिपरिपतन्मांसखण्डोपहारैः ।
आत्मज्योतिःप्रकाशः प्रचुरसुमनसोऽप्येष हुंकारगर्भैः
मन्त्रैरन्त्रोपवीतैः सुररिपुरकरोत् प्रेमपूजोपचारम् ॥ १७ ॥

दैत्येति—स्वीयात् आत्मनः अर्थात् हिरण्यकशिपोः देहात् कायात् उदरमध्यादित्यर्थः । उद्गतेभ्यः निर्गतेभ्यः दैत्यारातेः विष्णोः नखेभ्यः (हेतौ पञ्चमी) सपदि तत्कालमेव कृतभरैः कृतो भरो भरणं नखजगर्तपूरणं यैरिति रक्ताभिषेकविशेषणम् । भूयोरक्ताभिषेकैः प्रभूततरशोणितस्नानैः स्नपनैर्वा उपरि पतद्भिः मांसखण्डोपहारैश्च अन्त्राणि पुरीतन्ति एव उपवीतानि यज्ञोपवीतानि तैर्हुङ्कारगर्भैर्मन्त्रैश्च आत्मनः स्वस्य ज्योतिषः तेजस एव प्रकाश एष सुररिपुः सुरारिः प्रचुरसुमनसः विष्णोः प्रेमपूजोपचारं प्रेम्णा भक्त्यतिशयेन पूजा परिचर्या तस्या उपचारं सेवनं व्यवहारं वा अकरोत् । यदा विष्णुर्हिरण्यकशिपोः उदरदरीमुद्दार तदा तस्योदरात् बहुशोणितं मांसादि च बहिर्निरगमत् । कविरत्रोत्प्रेक्षते यत् स सुरारिः नूनं तेन रक्तादिना विष्णुमपूपुजत् । प्रचुरं सुष्ठु च मनो यस्य स प्रचुरसुमनास्तस्य अथवा प्रचुराः प्रभूताः सुमनसो देवाः यस्य स तस्य । सर्वदेवमयत्वाद्विष्णोः । यतो विष्णुः प्रचुरसुमना अतस्तस्य पूजां सुमनोभिरकरोत् किंतु असुरजातिस्वाभाव्याद् भक्त्यतिशयात्साहसिकत्वाच्च स्वकीयमांसरुधिरादिभिरेवेति भावः ।

उस अवसर पर मानों इस देवद्वेषी हिरण्यकशिपु ने अपने उदर के मध्य को विदीर्ण कर बाहर निकले हुए विष्णु के नखों से उद्भूत घावों को भरती हुई रक्तधारा से अभिषेक,

ऊपर गिरते हुए मांसखण्डों से उपहार, अंतड़ियों से उपवीत, हुंकार के रूप में मंत्रोच्चारण। एवं अपनी नैसर्गिक कान्ति से ही दीप का काम लेते हुए बड़े आदर-पूर्वक विष्णु की पूजा की।

अलंकारः—रूपक। छंदः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा॥ १७॥

महदिदमस्मदनर्हं गर्हास्पदं संप्रति प्रतीयते, यत् कुत एवैतत् श्रवणनयनयुगलाकलितामलरसनागलल्लोलकण्ठनालनासानिःसृतकफोपहितमुखं, स्रवद्रुधिरप्रवाहमज्जन्मज्जापुञ्जक्लिन्नमेदोमांसवसावसानं, स्नायुसेवनीमनीनिबद्धास्थिसहस्रसंधिदुर्गन्धिपरिपूरितपुरीषं, स्रवन्मूत्रचर्मकारक्षारोपस्कृतनीरपूरितमीषद्गलद्रसमार्द्रचर्मपुटमिव शरीरमेतत्। कुतो वाऽस्माकमत्रावस्थानं चिदंशत्वेन तत्रापि लीलागृहीतविग्रहाणामपि साक्षादस्मिन्करस्पर्श इति श्वासावरोधपूर्वकं वदतः नृहरेर्हृदयमतीव जुगुप्सास्पदमासीत्।

महदिति—सम्प्रति इदमतीव गर्हास्पदं निन्द्यमस्माकम् अनर्हमयोग्यं च प्रतीयते। यत् यस्मात् कुत एव एतत् शरीरं, कुत्र एवंविधं शरीरं, कुतो वा क च अस्माकमत्रावस्थानमिति, नोभयं सङ्गच्छते इत्यर्थ इत्युत्तरेणान्वयः। तत् शरीरं कीदृगित्याह तच्छ्रवणेति—युगलशब्द उभयत्रान्वेति श्रवणयुगलेन श्रोत्रयुगेन नयनयुगेन च आकलितः गृहीतः अमलरसनायाः निर्मलजिह्वायाः गलत्, लोलात् कण्ठनालात् नासातश्च निसृतः निर्गतः यः कफः तेन उपहतं मुखं वदनं यस्य तत् शरीरम्। पुनः कीदृक् शरीरं वर्तते इत्याह—स्रवदिति। स्रवन् शरीरात् चरन् यः रुधिरप्रवाहः तत्र मज्जन् निमज्जन् यो मज्जापुञ्जस्तेन क्लिन्नं मेदश्च, मांसं च। वसा च एतेषां समाहारः इति मज्जापुञ्जक्लिन्नमेदोमांसवसं तदेव अवसानम् अवसितं रूपमन्तिमरूपं यस्य तदिदं शरीरम्। पुनः कीदृग् शरीरमित्याह स्नायविति। स्नायवः नाड्य एव सेवनीमन्यः सूचिकाभेदास्ताभिः निबद्धः अस्थिसहस्रसन्धिः तत्र दुर्गन्धिपरिपूतं पुरीषं यत्र तत्, अत एव तदीदृक् शरीरं, स्रवन्मूत्रमेव चर्मकारस्य क्षारेण उपस्कृतं नीरं पयस्तेन पूरितं, ईषद् गलद्रसं आर्द्रचर्मपुटमिव वर्तते। अतोऽस्माकमत्र ईदृशे पूतिपूरिते शरीरेऽवस्थानं नोपयुज्यते इति। तत्रापि च लीलया गृहीतः विग्रहः शरीरं यैस्तेषामस्माकमस्मिन् शरीरे करेण साक्षात् स्पर्शोनोचित इति श्वासावरोधपूर्वकं वदतः नृहरेः हृदयमतीव जुगुप्सास्पदमासीत्।

अत्र प्रकृतसन्दर्भे जुगुप्सा स्थायिभावः। नृहरिनखविदीर्णं दृश्यमानरुधिरमांसमेदो हिरण्यकशिपुशरीरमालम्बनविभावः। तत्र मूत्रपुरीषरुधिरमांसमज्जामेदोऽन्यायजर्जसनादिकमुद्दीपनविभावः। अक्षिनिमीलननासापिधानादिकोऽनु-

भावः कल्प्यः। संचारिभावा अपि मोहावेगादयः कल्प्याः। अत्र जुगुप्सारूपस्थायिभावस्य पुनः पुनः स्वशब्देनोक्तिरत्यन्तमनुचिता।

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये तृतीयोच्छ्वासः।

इस समय, यह अतीव निन्दास्पद एवं मेरे लिये अनुचित जान पड़ता है कि कहाँ यह शरीर और कहाँ मेरी संस्थिति? दोनों में कोई सङ्गति नहीं। उसका कारण यह है कि शरीर के सभी अवयव नितान्त जुगुप्साजनक हैं। पहले मुख ही को लीजिये, वह दोनों आँखों और कानों से निःसृत, निर्मल जिह्वा से गलित, लोल कण्ठ एवं नासिकासे निर्गत कफादि मलों से भरा हुआ है। दूसरे यह कि प्रवाहित होता हुआ रुधिर का प्रवाह अपने भीतर मज्जा पुञ्ज को लिए हुए सारे शरीर को भरे हुए है। और विचारपूर्वक देखा जाय तो यह शरीर क्या है? मेदा, मांस, वसा की समष्टि ही तो एकत्र है। और देखिये, नाड़ी रूपी सूचिकाओं से सिली हुई असंख्य हड्डियों के पञ्जर में मलराशि इकट्ठी है जिससे जुगुप्साजनक गंध निकलती है। अधिक क्या कहें, चमारों के क्षार जल से आर्द्र चर्म की जो दशा है, वही बहते हुए मूत्र-प्रवाह से आर्द्र शरीर की स्थिति है। अब सोचने की बात है कि ऐसे कुत्सित शरीर से संबंध रखना मेरे लिए कितना अनुचित है? उसमें भी इस लीलाविग्रह के हाथों से स्पर्श तो नितान्त गर्हणीय है—इस प्रकार श्वासावरोधपूर्वक भाषणप्रवण भगवान् नरसिंह का हृदय जुगुप्सा से भर उठा।

नृसिंह चम्पू का यह तृतीय उच्छ्वास समाप्त।



अथ चतुर्थ उल्लासः

अथाद्भुतः—

> हाहाकारं विदित्वा जगति दिविषदोऽनल्पकल्पान्तकल्पं,
> प्रोद्यच्छंकाकलंका अवनिमवययुः स्वैर्विमानैरमानैः ।
> दूरादालोक्य लोकाद्भुततरवपुषं दीर्णदैत्येन्द्रदेहं,
> पद्मां पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां विस्मिताः प्रोचुरुच्चैः ॥ १ ॥

हाहेति—एवं दैत्येन्द्रवधानन्तरं दिविषदो देवाः 'आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः' इत्यमरः । जगति मर्त्यलोके अनल्पकल्पान्तकल्पम् अनल्पश्चासौ कल्पान्तश्च तत्कल्पं प्रलयकालसदृशं हाहाकारं विदित्वा ज्ञात्वा श्रुत्वा वा प्रोद्यच्छंकाकलंकाः प्रोद्यन् उद्गच्छन् प्रादुर्भवन्नित्यर्थः, शंकाकलंकः आतंकपंकः येषां ते विस्मिताश्च सन्तः देवाः अमानैः प्रमाणरहितैः अतिविशालैरित्यर्थः, विमानैर्वायुयानैः अवनिम् धरणिम् अवययुः अवतेरुः । देवाः स्वर्गाद् धरण्यामायात इत्यर्थः । आगत्य च देवाः लोकाद्भुततरवपुषं लोकेभ्यः अद्भुततरं विलक्षणतरं वपुः शरीरं यस्य तं, दीर्णदैत्येन्द्रदेहं दीर्णः विदीर्णः दैत्येन्द्रस्य हिरण्यकशिपोः देहो येन तं विष्णुं दूरादवलोक्य पद्मोद्भवादिप्रथितगुणगणां पद्मोद्भवो ब्रह्मा तत्प्रभृतीनां देवानां प्रथिताः ख्याताः गुणगणा यस्यास्तां सर्वदेववन्द्यामित्यर्थः । तां पद्मां विष्णुपत्नीं लक्ष्मीम् उच्चैः स्फुटं प्रोचुः अवोचन् । भीतास्तदा देवाः दैत्यारातेः प्रसादार्थं जगन्मातरं लक्ष्मीं वक्ष्यमाणप्रकारेण तुष्टुवुरित्यर्थः । 'पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः ।

अद्भुत-रसमय वर्णन से आरम्भ किया जा रहा है ।

संसार में प्रलयकाल के समान हाहाकार सुनकर देवगण आतङ्क-ग्रस्त हो गए और अपने अपरिमेय विमानों से भूतल पर उतर आए । दूर ही से लोक में अद्भुत रूप वाले दैत्येन्द्र के देह को विदीर्ण देखकर, ब्रह्मा आदि देवों में विख्यात गुणगणवाली विष्णु-पत्नी को विस्मयाविष्ट देवताओं ने उच्च स्वर में कहा ।

छन्द—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ १ ॥

किमूचुर्देवा इत्याकांक्षायाह—

> मातर्जगज्जननि ? पद्मकृताधिवासे ! कोपं निवारय हरेर्मुरमर्दनस्य ।
> नो चेच्चिरं रचितचारुचराचरस्य तत्कोपवीक्षणवशाद् भविता विनाशः ॥२॥

मातरिति—पद्मे कमले कृतो विहितोऽधिवासो निवासो यया सा तत्संबुद्धौ हे पद्मकृताधिवासे ! पद्मालये इत्यर्थः । जगतः जगत्त्रयस्य जननी उत्पादयित्री, तत्सम्बुद्धौ हे जगज्जननि ! मातः । कमले ! शीघ्रं मुरमर्दनस्य मुरं दैत्यविशेषं मर्द-

यति हिनस्ति इति तस्य हरेरित्यर्थः, कोपं क्रोधं निवारय अपगमय। नो चेत् अन्यथा यदि विष्णुकोपं त्वं शीघ्रमेव न शमयिष्यसि तर्हि विष्णोः सक्रोधवीक्षण-वशात् सकोपावलोकनवशात् सक्रोधं यद् वीक्षणं तद् वशात् चिरं चिरकालं यावत् प्रयत्नेन रचितस्य, चारुणः मनोहरस्य अस्य चराचरस्य जगतः विनाशः प्रणाशः भविता भविष्यति, सद्य एव नंक्ष्यति जगदेतदित्यर्थः।

देवताओं ने कहा—

हे माता! हे जगज्जननी! हे पद्मवासिनी! मुरारि के क्रोध को शान्त करोः अन्यथा दीर्घकाल का रचित चराचर जगत् इनके क्रोधपूर्ण वीक्षण से ध्वस्त हो जायगा।

छन्दः—ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ वसन्ततिलका ॥ २ ॥

लक्ष्मीः—

सिंहः सिंह इति प्रथा प्रथमतः पश्चान्नरोऽयं नरः
पश्चादेप नृकेशरीत्यतितरामाश्चर्यमुज्जृम्भते।
नैतादृक् क च वीक्षितं न च कदाप्याकर्णितं भोः सुराः?
स्वान्तं किंतु नितान्तमद्भुतरसे मग्नं ममास्ते मनाक् ॥ ३ ॥

सिंह इति—लक्ष्मीरुवाच। भोः सुराः अयि देवाः? प्रथमतः पूर्वं सिंहः सिंहः, सिंहोऽयं सिंहोऽयमिति प्रथा ख्यातिः 'प्रथा ख्यातौ' इत्यमरः। पश्चादनन्तरमयं नरः अयं नरः इति प्रथा पश्चात् परस्तात् च अयं नृकेशरी नृसिंहोऽयमिति अतितराम-त्यर्थमाश्चर्यमुज्जृम्भते। हे देवाः? मया अद्यावधि एतादृक् क्वचनापि न च वीक्षितं दृष्टं न च कुत्रापि आकर्णितं श्रुतम्। किन्तु तथापि, प्रथमत उद्भूतात्यन्ताश्चर्यस्य भगवतोऽलौकिकशक्तिविचारेण निवारणेऽपीत्यर्थः। मम स्वान्तं मनः 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। अस्मिन् नितान्तमतिशयेन अद्भुतरसे मनाग् ईषत्काल मग्नं निमग्नम् आस्ते वर्तते। 'मनागित्यव्ययमीषदर्थे मन्दे च' इति शब्दस्तोम-महानिधिः। भगवतो लोकातिशायिशक्त्या इच्छाविग्रहवत्त्वं ज्ञातवत्या अपि अदृष्टश्रुतपूर्वविग्रहावलोकनादीषत्कालमाश्चर्यं चेतस्युदेत्येवेति भावः।

फिर लक्ष्मी ने कहा—

पहले पहल जिन लोगों ने देखा, उन लोगों ने तो यही फैलाया कि—यह सिंह है सिंह। पर जब फिर ध्यान से देखा, तो मनुष्य; अंत में लोगों ने तय किया कि यह नरसिंह का मिश्रित आकार है—बड़ा आश्चर्य हो रहा है। हे देवगण! न तो मैंने इस प्रकार का प्राणी कहीं देखा और न सुना; इसीलिए क्षणभर के लिये मेरा अंतःकरण अद्भुत रस में डूब गया है।

छन्दः—ऽऽ ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ऽऽ। ऽऽ। ऽ शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

अपि च—

पित्रा वा हनन शिशोः प्रजननं स्तम्भाद्य सम्भावितम्
विष्णोर्वा नृशरीरमस्ति कुहचित् सिंहाङ्गसंमिश्रितम् ।
इत्याश्चर्यपरम्परा-परिणति-व्याधूत-धैर्यं मनो
नाद्यापि स्थितिमेति मे सुमनसः किं तत्र कृत्यान्तरम् ॥ ४ ॥

पित्रेति—किं क्वचित् पित्रा शिशोरात्मजस्येत्यर्थः, हनन हत्या सम्भावित, न केनापि सम्भावितमित्यर्थः । किं च, क्वचित् स्तम्भात् प्रजनन कस्याप्युत्पत्तिः सम्भाव्यते, न केनापि कदापि सम्भावयितुमपि शक्यमेतत् । अथवा किं क्वचित् विष्णोर्हरे सिंहांगसम्मिश्रित सिंहस्य केसरिण अंगैः अवयवैः समिश्रित मिलितं नृशरीरमस्ति, नरसिंहरूपेण प्रादुर्भवनं सम्भाव्यते किम् ? अर्थात् किं क्वचित् केनापि विष्णोर्नृसिंहरूपेण प्रादुर्भवनमद्य यावद् दृष्टं श्रुतं वा ? न श्रुतं नापि च दृष्टमित्यर्थः । सुमनसो देवाः । इतीत्थमाश्चर्याणां परम्परायाः परिणत्या परिणामेन व्याधूतं त्याजितं धैर्यमवष्टम्भो यस्य तत्तादृङ् मे मनः वर्तते इति शेषः । तच्च तथा भ्रान्तं मे मानसमद्यापि स्थितिं स्थिरतां न एति । न प्राप्नोति । तत्र एवंविधे व्यतिकरे किं कृत्यान्तरं किमन्यत् कार्यं कर्तुं शक्यते । 'सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः' इत्यमरः । सिंहस्य केसरिणः अंगेन अवयवेन सम्मिश्रितं सम्मिलितम् ।

और भी —

भला कभी यह देखा या सुना है कि पिता अपने पुत्र की हत्या करता है ! कहीं यह भी सुना है कि स्तम्भ से कोई पैदा हुआ है ? भला कभी विष्णु की आकृति नृसिंहाकार हुई है ? इन सब आश्चर्य-परम्पराओं की परिणति से थर-थर काँपता हुआ मेरा मन अब तक भी अपने आपे में स्थिर नहीं हो सका है । ऐसी स्थिति में हे देवगण ! आप ही बतायें, और कौन सा अन्य कार्य किया जा सकता है ? जहाँ अपने चित्त को ही मैं स्थिर नहीं कर पाती, वहाँ और क्या कर सकती हूँ ?

छन्द.—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

देवाः—

अहो ! महदाश्चर्यमेतद् अस्माभिरकस्मादनुभूयते यन्मनोऽपि भ्रमविषयमकाण्डताण्डवितमिव, निमुक्तकालानस्थायां चिरसमयावलोकितस्वप्न इव, किमाहोस्विन्मुरमर्दनस्य मनोविनोदजनकस्वमायाविलसितमिवेति संशयविषयदूषितमनसः सुमनसोऽपि कान्दिशीका इव स्मः ।

अथ किं पुनर्वयं, मधुसूदनसुन्दरीन्दिरापि अननुभूताद्भुततररूपदर्शनाद् विस्मिताऽस्मदनुकंपाकलितचित्ताऽद्यापि पुरः प्रचलितुं न साहसमवलम्ब्यते ।

इत्यद्भुतः ।

अहो इति—अहो इत्याश्चर्यसूचकमव्ययम् । अस्माभिरद्य अकस्मात् अतर्कितोपनतमित्यर्थः, एतत् महत् आश्चर्यमनुभूयते अनुभवगोचरीक्रियते । यत् यस्मात् किम् अकाण्डताण्डवितम् असमयसञ्जातताण्डवमिव भ्रमविपर्यं भ्रान्तमिदं मनोऽनुभूयते, अर्थात् अयं सर्वो दृश्यमानो नृसिंहप्रादुर्भावादिरूपो मनःकल्पित एवास्माभिरनुभूयते। अथवा किमुत्तरकाले अनवस्थायी न स्थातुमर्हः चिरसमये पूर्वं कदाचिदिह जन्मनि परस्मिन् वा जन्मनि अवलोकितः स्वप्न इव अनुभूयते। आहोस्वित् अथवा किमिदं सर्वं सुरमर्दनस्य श्रीविष्णोः मनोविनोदजनकं स्वमायाया विलसितं विचेष्टितमिव वर्तते इति शेषः, इतीत्थं संशयविपर्येण संशयरूपेण विपर्येण दूषितं परिभूतं मनो येषां ते वयं सुमनसोऽपि सुष्ठु मनो येषां ते देवाः सन्तोऽपि स्थितप्रज्ञाः सन्तोऽपि वयं कान्दिशीका इव स्मः। भीताः सन्तः कर्तव्याकर्तव्यविमूढा इव जाताः स्मः। अथ किं पुनर्वयं, अथवा अस्माकं तु कैव कथा, स्वयं मधुसूदनस्य विष्णोः सुन्दरी प्रिया इन्दिरा लक्ष्मीरपि अननुभूतस्य पूर्वं कदापि अदृष्टस्याश्रुतस्य च अद्भुततरस्य रूपस्य दर्शनात् विस्मिता सती अस्माकमनुकम्पायाम् आकलितं धारितं चित्तं मनो यया सा सती। 'अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति' पाठे अस्मासु दययाऽकलिता गृहीता चिन्ता कथं लोकस्य कल्याणं भविष्यतीत्येवंरूपा यया सेत्यर्थः।

अत्र अद्भुतरसे विस्मयः स्थायिभावः। लोकाद्भुतं नृसिंहशरीरमालम्बनम् । तच्चाद्य श्लोके लोकाद्भुततरवपुषमित्यनेन विशेषणेनोक्तम् । दीर्णदैत्येन्द्रदेहमित्यनेन दैत्येन्द्रदेहदारणरूपा तच्चेष्टा उद्दीपनविभाव उक्तः। प्रोद्यच्छङ्काकलंका इति भयरूपो व्यभिचारिभाव उक्तः। विस्मिता इति विस्मयस्य स्थायिभावस्य स्वशब्देनोपादानं तु नोचितम् । द्वितीयपद्योक्तो भगवतः कोपोऽपि सञ्चारिभाव एव—तृतीयचतुर्थपद्योक्तैरुद्दीपनविभावैश्च स्थायिनो विस्मयस्य पुष्टिरेव क्रियते। भ्रमविपर्यमकाण्डताण्डवमिति भ्रान्तिः, किमुत्तरकालानवस्थायीत्यादि वितर्कः, कान्दिशीका इवेति भयम्, अस्मदनुकम्पाकलितचिन्तेति चिन्ताकारुण्ये, एतेऽपि सञ्चारिभावाः । इत्याश्चर्यपरम्परापरिणतिव्याधूतधैर्यं मनो नाद्यापि स्थितिमेति इति मनोऽनवस्थानरूपः सम्भ्रमोऽनुभावः। अन्येऽपि स्तम्भस्वेदरोमाञ्चगद्गदस्वरभाषणादयोऽनुभावा आक्षेप्याः ।

इति अद्भुतरसनिरूपणम् ।

देवताओं ने यह :—

अहो ! इस समय यह महान् आश्चर्य हो रहा है कि क्यों यह मन एकाएक उथल-पुथल का अनुभव करता हुआ भ्रान्त हो गया है ? जो कुछ भी सामने दिखाई पड़ रहा है, यह सत्य है ? अथवा शीघ्र अदृश्य हो जाने वाला दृष्ट पुरातन साकार स्वप्न है ? अथवा मुरारि का मनोविनोदिनी माया का क्षणिक विलास है ? क्या कारण है कि उक्त विकल्पों से अस्वस्थ चित्त वाले हम स्थिरमति देवगणों को भी डर के मारे किस दिशा में जाकर छिपें-यह वृत्ति उत्पन्न हो रही है ? और हम लोगों की ही क्या बात है स्वयं विष्णुपत्नी लक्ष्मी भी इस अननुभूत अद्भुततम रूप को देखकर विस्मित हो उठी हैं। यही कारण है कि यद्यपि वे हम लोगों पर अत्यन्त कृपाशील हैं, फिर भी कुछ कर नहीं पा रही हैं ॥

यहाँ तक अद्भुत रस का निरूपण हुआ ।

अथ हास्यरसः—

परस्पर-प्रेषण-कातराणां शंकातुराणामिह सत्वराणाम् ।
सवेग-संलापवचो-विचारैः क्षणं सुराणां समभूद् विनोदः ॥ ५ ॥

परस्परेति—अथ तदद्भुतदर्शनानन्तरं सर्वेषां सुराणां परस्परमेव वक्ष्यमाण-प्रकारेण सुमहान् विनोदोऽभवत् । परस्परं मिथः प्रेषणाय श्रीविष्णोः समीपे गम-यितुं कातराणां चञ्चलानामधीराणां वा शंकातुराणाम् आतंकव्याकुलानां सत्वराणां झटितिकारिणां सुराणां सुमनसां सवेगसंलापे ससम्भ्रमालापे जातैर्वचोविचारैः वाग्भिर्विचारैश्च क्षणं मुहूर्तं विनोदः पारस्परिक हास्यमित्यर्थः समभूत् । 'कातरोऽ-धीरे चञ्चले भीते' इत्यादि शब्दस्तोममहानिधिः ।

अब हास्य रस का निरूपण आरम्भ किया जा रहा है ।

[इस अद्भुत जीव का दर्शन होने पर] आतङ्कग्रस्त, त्वराशील एवं परस्पर एक दूसरे को (विष्णु के समीप) भेजने के लिए चञ्चल चित्त वाले देवताओं में जो कुछ देर तक आलाप होते रहे, उस अवसर पर व्यक्त किये गये शब्दों एवं विचारों को लेकर उनमें काफी विनोद होता रहा ।

छन्द :—ISS SSI ISI SS उपेन्द्रवज्रा ११ वर्णों का वृत्त है ॥ ५ ॥

तत्रादौ गणेशः—

आनीतोऽहमिभाननो मृगपतिं दैवैरहो वैरिभिः
किं कुर्यामिति भीतिभंगुरतया संकोच्य तां शुण्डिकाम् ।
कर्णाभ्यां च पिधाय यान्तमचिराल्लम्बोदरं धावतो
भारभ्रस्यलदुन्दुरोर्निपतितं दृष्ट्वा जहासाच्युतः ॥ ६ ॥

आनीत इति—अहो इति विषादे । अहम् इभाननो गणेशः वैरिभिः देवैः मृगपतिमिमं नृसिंहम् आनीतः प्रापितः । अर्थात् इमे सखिभूताः अपि वैरायमाणा देवा मां गजास्यं नृसिंहसमीपे आनीतवन्तः । इदानीमहं किं कुर्याम् किं करवाणि इति भीतिभंगुरतया भीत्या भंगुरत्वेन आत्मनस्तां शुण्डिकां करं संकोचं प्रापय्य तां च शुण्डिकां निजकर्णाभ्यां पिधायाच्छाद्य यान्तं मूषिकं निजवाहनमारुह्य गच्छन्तं धावतोऽभिधावतः अत एव भारेण गणेशभरेण प्रस्खलतः प्रभ्रश्यत उन्दुरोः निजवाहनभूताद् आखोः निपतितं लम्बोदरं गणेशं दृष्ट्वा अच्युतो विष्णुः जहास हसितवान् । 'शोके धिगर्थे विषादे दयायाम्' इत्यादिष्वर्थेषु अहो इत्यव्ययमिति शब्दस्तोममहानिधिः । 'उन्दुरुर्मूषिकोऽप्याखुः' इत्यमरः ।

इस अवसर पर सबसे पहले गणेश ने कहा:—

बड़े खेद की बात है कि इन वैरी देवताओं ने मुझ गजानन को सिंह के सामने लाकर खड़ा कर दिया। अब क्या करूँ? इस विचार के अनन्तर भय-त्रस्त गणेश ने अपनी शुण्ड को लपेट कर कानों से ढँक लिया और दौड़ाया मूषक को। भार था अधिक, इसलिए उस मूषक में कुछ स्खलन हुआ और फल स्वरूप लम्बोदर गणेश को नीचे आना पड़ा। इस स्थिति को देखकर भगवान हंस पड़े ॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ६ ॥

अपि च—

विष्णो ? विष्णोः समीपं व्रज यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्
देवः संयातु पाथःपतिरिति मघवन् ? मेऽस्ति कान्ता नवोढा ।
चित्ते वित्तेश ? धैर्यं कुरु मम शिशवो हन्त पश्यन्ति मार्गं
वायो ? वायो ! यजत्रप्रिय उरगपतिः पृष्ठतः किं न दृष्टः ॥ ७ ॥

विष्णो इति—गणेश उवाच अथवा देवा ऊचुः । हे विष्णो ? हे इन्द्र ? अत्र विष्णुपदेन इन्द्रव्यपदेशः श्लोकस्य द्वितीये चरणे 'मघवन्' इति सम्बोधनपदात्, 'यजनशतैः प्राप्तमिन्द्रत्वमेतद्' इति वाक्याच्च । इन्द्रात्मनो व्यापकत्वं वेवेष्टि इति विष्णुरिति व्युत्पत्तेराधायकम् । यथा विष्णुर्विकल्पोज्झित इत्यद्वैतसिद्धिमंगलश्लोके विष्णुपदं गौडब्रह्मानन्देन व्यापकं जीवस्वरूपमित्यर्थकं योगेन व्याख्यातम् । प्रथमस्यापि विष्णुपदस्य षष्ठ्यन्तत्वे तु सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । त्वमेव विष्णोर्नृसिंहस्य समीपं व्रज गच्छ इत्युक्त इन्द्र आह । मया यजनशतैः शतसंख्याकैरश्वमेधैर्महता क्लेशेन इन्द्रत्वं इन्द्रपद लब्धमतस्तद्भ्रंशभिया नृसिंह-समीपं न गच्छामि किन्तु पाथःपतिः पाथसां जलानां पतिर्देवो वरुण इत्यर्थः, स विष्णुसमीपं संयातु व्रजतु । तदा स वरुण उवाच हे मघवन्? हे इन्द्र ? मे मम नवोढा नवपरिणीता कान्ता अस्ति सा मम मार्गं वीक्षमाणा तिष्ठतीत्यर्थः ।

तदा वित्तेश. प्रार्थ्यते । हे वित्तेश ? हे धनाध्यक्ष कुबेर ? त्वमेव चित्ते मनसि धैर्यं कुरु । त्वमेव मनसि धैर्यमाधाय विष्णोः पार्श्वमुपयाहि । तदा स धनद उचे— हन्तेति खेदे । वनेश्वपि । मम शिशवोऽर्भका' मे मार्गं पश्यन्ति । तदा स वायु' मूचे । वायो ? हे वायो ? द्विरुक्ति' सम्भ्रमे । सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकधाप्रयोगो न्यायसिद्ध इत्यनुशासनबलात् । त्वमेव विष्णुसमीपं व्रजेत्युक्तो वायुरवदत् । भो' अहमपि जन्तुभक्ष्य' । कारणमाह—किं युष्माभिर्यज्ञप्रियो यज्ञस्य यजमानरूपस्य विष्णोः प्रियः उरगपति' शेष' पृष्ठत विष्णुमुपसेवमानो न दृष्ट, स उरगपति' र्मामशिष्यति । यतो ह्यहं तस्याशनम् ।

[फिर देवताओं ने कहा'—] हे इन्द्र ! तुम्हीं नृसिंह के पास जाओ । [इन्द्र ने उत्तर दिया —] मैंने भी यज्ञ करके [बड़े क्लेश से] इस पद को प्राप्त किया है । अतः जल-पति वरुण ही उनके पास जायें । [इस पर वरुण ने उत्तर दिया कि] हे इन्द्र ! हमारी पत्नी अभी नववधू है अर्थात् मैं उसे अभी विवाहोपरान्त लाया हूँ [वह मेरा रास्ता देख रही होगी] । तब लोगों ने वित्तेश कुबेर से प्रार्थना की और कहा, भाई ! तुम्हीं चित्त में धैर्य धारण करो [अर्थात् धैर्य के साथ जाओ] । इस पर धनद ने उत्तर दिया— बड़े क्लेश की बात है कि मेरे छोटे-छोटे बच्चे मेरा रास्ता देखते होंगे । फिर लोगों ने कहा—हे वायु ! तुम्हीं विष्णु के पास जाओ । वायु ने उत्तर दिया क्या तुम लोगों ने विष्णु के पास उनकी सेवा में तत्पर उरगपति को नहीं देखा है ? (और जब देखा है तो जानते ही हो, कि वायु सर्प का भक्ष्य है] ।

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS IS स्रग्धरा ॥ ७ ॥

अपि च—

> अग्रे याहि शशाङ्क ? यन्निजवपुःपीयूषतः पोषिता-
> एतावत्समयं मया सुमनसः किं तस्य चैतत्फलम् ।
> अग्ने गच्छ पुरो मुखं मखभुजां युष्माकमेवास्म्यहं
> मन्नाशे समुपस्थिते किमशनं वक्त्रान्तरात् सेत्स्यति ॥८॥

अग्रे इति—तदा देवा ऊचुः । हे शशांक ? हे चन्द्र ? अग्रे याहि त्व विष्णुमुपया- हि । तदा स चन्द्रो देवान्प्रत्यभाषत । हे सुमनसः हे देवा. ? मया यत एतावत्सम- यमियन्त कालं यूयं निजवपुर्पीयूषत' स्वशरीरामृतकलाभि' पोषिताः पुष्टिं नीता' तस्य वा तस्यैव पोषणस्य मह्यम् एतत् फलं प्रदीयते युष्माभिः किम् ? तदा देवा अग्निमूचुः । हे अग्ने ? हे वह्ने ? त्वं पुरोऽग्रे गच्छ । तदा अग्निर्देवान्प्रत्यवदत् । भो देवाः अहं (वह्नि') युष्माकं मखभुजां देवानां मुखमस्मि । अहमेव युष्माकमुदरे खाद्यपदार्थान्प्रापयामि । मम नाशे उपस्थिते सति किं युष्माकमशनं भोजनं वक्त्रान्तरात् अन्यस्मात् मुखात् सेत्स्यति सम्पत्स्यते ? न सम्पत्स्यते इत्यर्थ' ।

सम्पादनाभावे च युष्मन्मरणमेव ध्रुवम्। अतोऽहं न प्रेषणीयः। 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः।

और भीः—

हे चन्द्र! फिर तुम्हीं उनके समक्ष जाओ। इस पर चन्द्र ने कहा कि क्या जो मैंने अपने शरीर से झरते हुए अमृत को पिला-पिला कर देवताओं को परिपुष्ट किया, उसीका यह फल है? [कि तुम देवगण मुझे वहाँ भेज रहे हो?] [अच्छा, फिर] हे अग्ने! तुम्हीं सामने जाओ! [अग्नि ने उत्तर दिया] हे देवगण! मैं ही तो आप लोगों का मुख हूँ? जब मेरा ही नाश हो जायगा, तब क्या तुम लोग दूसरे मुख से खाओगे? [सारांश यह कि तुम लोगों को दूसरा मुख तो है नहीं, जिस से खाओगे? फल यह होगा कि मेरे मरते ही तुम सब मर जाओगे]॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ८ ॥

अपि च—

धातस्तात त्वमग्रे भवसि भगवतामग्रणीर्दैवतानाम्
विष्णोः कोपानलोऽयं ज्वलयति च सुराः ? कूर्चपंक्तीः सुदीर्घाः।
इत्थं गीर्वाणवाणीमतिकृपणतरां प्रस्खलद्वर्णवाक्या-
माकर्ण्योत्फुल्लगल्लप्रहसितवदनं शार्ङ्गिणोऽस्मान्पुनातु ॥ ९ ॥

धातरिति—अग्निरुवाच तात? ब्रह्मन्? भगवतां पूज्यानां देवतानामग्रणीर्धुर्यः त्वमग्रे विष्णोः पुरो भवसि? इति काका प्रश्नः। सर्वपितृत्वाद्देवाग्रणीत्वाच्च त्वमेव विष्णुसमीपमुपयाहि। आपदि हि पितरः पुत्रान् पृष्ठतः कृत्वा स्वयमेव पुरो भवन्ति पुत्रस्नेहात्। अग्रण्यश्च कार्याकार्यकुशलत्वादनुचरान् इति भावः। इत्यमुक्तो ब्रह्मा आह—हे सुराः विष्णोः अयं कोपानलः मम सुदीर्घा आयताश्चतुर्णामाननानां कूर्चपंक्तीः श्मश्रुपंक्तीः ज्वलयति। इत्थममुना प्रकारेण प्रस्खलन्तो वर्णा भयाद्गद्गदस्वरेणोच्चार्यमाणा वर्णा येषु तानि। प्रस्खलद्वर्णानि तानि वाक्यानि यस्यां ताम्, अति कृपणतरामतिदीनां गीर्वाणवाणीं देवगिरमाकर्ण्य शार्ङ्गिणो नृसिंहस्य उत्फुल्लौ विकसितौ गल्लौ कपोलौ यस्मिन् तत् प्रहसितं वदनं प्रहृष्टं मुखम् अस्मान् नः पुनातु पवित्रयतु। अत्र प्रहसितं वदनमिति असमस्तेन भाव्यं, वदनप्रहासस्य विधेयत्वेन समासाऽयोग्यत्वात्। एवं प्रायोऽत्र चम्प्वामविमृष्टविधेयांशो दोषः प्रस्फुटति।

'फिर अग्नि ने कहा—हे तात ब्रह्मा! तुम पूजनीय देवों में अग्रगण्य हो, अतः तुम्हीं विष्णु के समक्ष जाओ। क्यों? ब्रह्मा ने उत्तर दिया—हे देवगण! यह क्रोधाग्नि मेरी लम्बी चौड़ी दाढ़ी-मूँछ को जला रही है—इस प्रकार उक्त अर्थ से भरी हुई भयवश प्रस्खलनशील तथा दैन्यपूर्ण विधाता की वाणी को सुनकर भगवान् के विहसित कपोलों वाला वदन हम सब को पवित्र करे॥

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ९ ॥

अथ महर्षयोऽपि—

अहो ! साम्प्रतमस्माभिर्विचारितमेकं जीवनबीजम् । तच्छृणुत सर्वे महर्षयः । नरहरिकोपकृशानुना प्रवृत्तेऽपि कल्पान्ते तत्कृपापात्रस्य प्रह्लादस्य नैव नाशशङ्काकलङ्कावकाशः स्यादतो वयमपि सद्यः कूर्चाभयं सम्पाद्य निरस्तसमस्तोत्तरीयवसनाः सद्यः किशोरदशामवलम्ब्य सर्वेऽपि प्रह्लादा एव भवाम । किं परस्परप्रार्थनाव्यर्थप्रयासेन । अपरे तु प्रह्लादमनुनीय तमिति प्रार्थयन्, तात ? त्वदर्थमेतावाननर्थस्त्वयैव निवार्यताम्। अन्यथैकः सन्धित्सितोऽपरः प्रच्यवत इति न्यायात् श्रेयःसाधनाय नृहरिं सेवमानस्य सर्वभूतोपप्लवोत्पन्नहिंसाजनितप्रत्यवायो दुष्कर एव, अपयशःसागरोऽपि सुतरां दुस्तरः स्यात् । अथोपकुर्वाणं भवन्तं वैधव्यभीता अस्मत्कुटुम्बिन्यः परमाशीर्भिः प्रत्युपकरिष्यन्ति । तेनोभयमपि यशस्करमेव स्यात् । इति हास्यरसः ।

अहो इति—अहो इति हर्षे । साम्प्रतमधुना अस्माभिरेव जीवनबीजं जीवनधारणस्यादिमूलमुपायो वा विचारितं चिन्तितम् । तत्कारणमुपायं वा तं सर्वे यूयं महर्षयः शृणुत आकर्णयत । नृहरेर्नृसिंहस्य श्रीविष्णोः कोपः क्रोध एव कृशानुरनलस्तेन प्रवृत्ते प्रारब्धेऽपि कल्पान्ते प्रलये तत्कृपापात्रस्य तदनुकम्पाभाजनस्य प्रह्लादस्य न कदापि नाशस्य मरणस्य शङ्का भयं सैव कलङ्कः दुर्यशः, कारणे कार्यतादात्म्यारोपः । तस्य अवकाशः अवसरः स्यात् । अतो हेतो वयमपि सर्वे सद्यो झगिति कूर्चाभयं कूर्चानामभयं क्षौरकर्मणा वदनादपनीयान्यत्र स्थापनेनेति भावः । सम्पाद्य कृत्वा, श्मश्रुन् कूर्चानपर्यायैरत्यर्थं, निरस्तानि अपनीतानि समस्तानि उत्तरीयवसनानि उपरिधारणवस्त्राणि यैस्ते सन्तो वयं सद्यस्तत्कालमेव कूर्चोत्तरीयवसनापनयनसमकालमेव किशोरदशां कौमारमवलम्ब्याश्रित्य सर्वेऽपि वयमिह प्रह्लादसदृशा एव भवाम । परस्परं मिथः प्रार्थनाया प्रेरणाया व्यर्थेन प्रयासेन किं को लाभः न कोऽपि इत्यर्थः ।

अपरे तु इतरे तु केचन महर्षयः प्रह्लादमनुमन्योपगम्य तमिति वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रार्थयन् प्रार्थयामासुः । किं तत् प्रार्थनमिति आह तातेति । तात ? त्वदर्थं त्वत्कृते विष्णुना कृतोऽयमेतावान् इयाननर्थः । त्वयैव निवार्यतामपक्रियताम् । अन्यथा नो चेत् एकः सन्धित्सतः सन्धातुमिच्छतः पुंसः अपरः प्रच्यवते भ्रश्यति इति न्यायादाभाणकात्, श्रेयःसाधनाय अपवर्गमार्गमभिलषतोऽत एव च नृहरिं श्रीविष्णुं सेवमानस्य तव, सर्वभूतेति सर्वेषां भूतानामुपप्लवेन उपद्रवेण हेतुना उत्पन्नया हिंसया जनितः उत्पादितः प्रत्यवायः एव दुष्कर एव तत्सम-

शत्र एव । अपि च अपयशःसागरः अकीर्तिसमुद्रो दुस्तरः स्यात् । अथेति पक्षान्तरपरिग्रहे । एवमस्मानुपकुर्वाणमुपकुर्वन्तं भवन्तं वैधव्यात् भीतास्त्रस्ता अस्माकं कुटुम्बिन्यः भार्या अपि परमतिशयेन आशीर्भिराशीर्वादैः त्वां प्रत्युपकरिष्यन्ति। तेन इत्थमुभयमपि उपकारप्रत्युपकारद्वयमपि यशस्करं कीर्तिकरं सम्पत्स्यते। इति हास्यरसोऽवसितः।

अत्र प्रबन्धे समुपवर्णित–विकृताकारवाक्चेष्टा गणेशाद्या देवा आलम्बनविभावरूपा हास्यरसस्य। तेषां शुण्डिकासंकोचनाच्छादनविकृतवाक्प्रयोगादय उद्दीपनविभावाः। आकर्ण्योत्फुल्लगल्लमित्युत्फुल्लगल्लत्वमनुभावः। अत्र वर्णितं देवानां नृसिंहाद् भयं व्यभिचारिभावः। अन्येऽपि सम्भविनोऽनुभावादय ऊह्याः।

फिर तो महर्षियों ने भीः—[कहा]

अहो! सम्प्रति हमलोगों ने जीवन को सुरक्षित रखने का एक उपाय सोच रक्खा है। तो उसको आप सब महर्षिजन सुनें। नृसिंह की कोपाग्निवश प्रलयकाल उपस्थित हो जाने पर भी उनके कृपापात्र प्रह्लाद के नाश की तो कोई आशङ्का है नहीं। अतः हम सब भी तुरंत दाढ़ी एवं उत्तरीय का परित्याग कर किशोरावस्था का सहारा लेकर प्रह्लाद ही बन जायँ। परस्पर एक दूसरे की निरर्थक प्रार्थना क्यों करें? दूसरे लोगों ने तो प्रह्लाद का अनुगमन कर उनसे यही प्रार्थना की—तुम्हारे ही लिए इतना अनर्थ हो रहा है, तुम्हीं उसका निवारण करो, अन्यथा 'एकं सन्धित्सतः अपरं प्रच्यवते' इस न्याय से [अर्थात् एक ही बनाने की इच्छा रखने वाले का दूसरा बिगड़ जाता है], परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए हरि की उपासना करते हुए तुम्हें निखिल प्राणियों की हिंसा का दुष्कर प्रत्यवाय तो लगेगा ही, साथ ही अपयश-सागर भी तुम्हारे लिये दुस्तर हो जायगा। दूसरे यह कि यदि तुमने [हम लोगों की प्रार्थना को कार्यान्वित कर] उपकार किया, तो [इसका फल यह होगा कि] भावी वैधव्य से भीत हम सब की पत्नियाँ तुम्हें आशीर्वाद से उपकृत करेंगी।

अथ करुणरसः—

> हन्ताहं तावदज्ञस्तव चरणकृपापात्रमात्रं मुरारे
> हन्ताहन्तासि दन्तावलनिवहबलस्यापि शत्रोस्त्वमेव।
> पित्रापि त्रासितं मां प्रभवति भवतः कोऽपरस्त्रातुमुच्चै-
> र्लोकालोकाग्रभानुर्न भवति यदि तत् केन जीवेत् त्रिलोकी ॥१०॥

हन्तेति—हे मुरारे? हे नृसिंह? अहं तावदज्ञः मन्दधीः त्वां स्वरूपतो ज्ञातुमक्षम इत्यर्थः। किन्तु तव चरणयोः कृपाया एकमात्रं पात्रमस्मि। हे नृसिंह? हन्तेति हर्षे दन्तावलानां हस्तिनां निवहः समूहः तस्य बलं यस्य तस्य अपरिमितकरिबलधारिण इत्यर्थः। शत्रोः मम पितुर्हिरण्यकशिपोरपि त्वमेव आहन्ता

अतिशयेन नाशयिता असि विद्यसे । पित्रा जनकेनापि आमितमुत्पीडितं मां भवत अपरः, स्वदते इत्यर्थः । कः उच्चैः श्रातु रक्षितुं प्रभवति क्षमते । लोकैर्विश्रासित पिता रक्षति पित्रापि आमितं मां त्वदपरः को रक्षेदिति भावः । यदि लोकालोकस्य पर्वतविशेषस्य अप्रमाणुर्नं भवति न स्यात् तर्हि कः अपरेण जीवनाधारेण त्रिलोकी भुवनत्रयं जावत् प्राप्यात् । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः । भवतोऽपरः इत्यत्र 'अन्याराद्इतरर्ते दिक्' इति पञ्चमी । अन्यार्थग्रहणात् ।

सम्प्रति, करुणरसपरक वर्णन प्रारम्भ करने जा रहे हैं —

सच्ची बात है कि मैं तो अयत्न अद व्यक्ति हूँ, हे मुरारे ! मैं जो कुछ हूँ वह केवल तुम्हारे चरणों की कृपामात्र । हे देव ! अनेकानेक हाथियों से से बलशाली हिरण्यकशिपु का हनन तुमने ही तो किया । [जो पिता सब से रक्षा करता है] उस पिता ने भी जब मुझे पस्त कर दिया, तो उससे बचाने में आप की अपेक्षा दूसरा ऐसा कौन था, जो अच्छी प्रकार मेरी रक्षा कर सकता था ?

छन्द—SSS SSS I I I ISS IS स्रग्धरा ॥ १० ॥

अपि च—

> निर्माता त्वं च माता त्वमसि मम पिता त्वं च नेता विनेता
> भ्राता त्राता सखा त्वं भवसि नरहरे ? त्वं निधिर्देवता वा ।
> भुक्तिर्मुक्तिर्विरक्तिर्मम विशदयशः प्राज्यसाम्राज्ययोग्यं
> भाग्यं सौभाग्ययुक्तं किमु वचनचयैस्त्वं ममात्मा परात्मा ॥ ११ ॥

निर्मातेति—हे नृसिंह ! त्वं मम निर्माता रचयिताऽसि । त्वं माता जनन्यपि त्वमेवासि । मम पिता, नेता निर्वाहकः सर्वकार्यनिर्वाहक इत्यर्थः । विनेता शिक्षकश्च त्वमेवासि । त्वं मे भ्राता, त्राता रक्षकः, सखा मित्रं, त्वं भुक्तिरुपभोगः, मुक्तिरपवर्गः, विरक्तिर्वैराग्यं, प्राज्यस्यातिविस्तृतस्य साम्राज्यस्य योग्यमनुकूलं विशदं च तद् यश इति विशदयशो विपुला कीर्तिः त्वमेवासि । सौभाग्येन युक्तं सहितं भाग्यं भागधेयं त्वमेवासि । हे नृसिंह ? एवंविधैः वचनचयैर्वाक्यसमूहैः भाषणसमूहैर्वा किं, न किंचित् साध्यमित्यर्थः । त्वमेव मे परात्मासि त्वमेव च मे आत्मा अन्तरात्माऽसि । मम सर्वं त्वमेवासीति भावः । 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव' इत्यर्थः । नेता 'प्रभौ, निर्वाहके, नायके, प्रवर्तके, प्रापके च' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'भुक्तिर्भोगे भोजने च' इति च । 'निधिर्ना शेवधिः' इत्यमरः ।

हे नृसिंह ! तुम मेरे निर्माता, माता, पिता, नेता, विनेता, भ्राता, रक्षक, सखा, सम्पत्ति, तथा देव भी हो । हे देव ! तुम मेरी भुक्ति, मुक्ति वैराग्य, विशाल साम्राज्य योग्य,

भाग्य एवं सौभाग्य सब हो, अधिक वाग्विस्तार क्या करूँ, तुम मेरी अन्तरात्मा तथा परात्मा हो ।

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ ११ ॥

अथ देवः—

कीलाले क्लेदितोऽसि प्रथममथ पुनर्मुग्धदग्धोऽसि वह्ना-
वुत्पातैर्घात-पातैरतिविषम-विषैर्दन्दशूकादि-दंशैः ।
मद्द्वेषात्क्लेशितस्त्वं शिशुहननकृताऽनेन पापीयसा यत्
तत्सोढा मन्निमित्तं भुवि भवति तदानृण्यमेतच्छिशोः किम् ॥१२॥

कीलाल इति—अथानन्तरं पुनर्देव उवाच । हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशुहननकृता बालघातकेनानेन पापीयसा पापिना दैत्येन मद्द्वेषात् मह्यं द्रुह्यता यतस्त्वं मद्भक्तोऽसीत्यतस्त्वं विविधैः प्रकारैः क्लेशितः क्लेशं प्रापितोऽसि । तथा हि—प्रथमं कीलाले जले क्लेदितः, अथ पुनः हे मुग्ध सुन्दर ! प्रह्लाद ! वह्नौ दग्धोऽसि । उत्पातैरुपद्रवैः, घाताश्च पाताश्च तैर्घातपातैः, घातैरस्यादिना हननैः, पातैः पर्वतादेः पातनैः, अतिविषमविषैः अतिविषममत्युग्रं विषं गरलं येषां तैर्दन्दशूकादिदंशैः दन्दशूकादीनां सर्पादीनां दंशैः दशनैः क्लेशितः पीडितोऽसि । 'दन्दशूको बिलेशयः । उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः । तदेतत् सर्वं हे प्रह्लाद ! त्वं मन्निमित्तं मत्कारणात् मद्भक्तिकारणात् सोढा सोढवानसि । तत् तस्माद् एतद् हिरण्यकशिपुवधादिरूपं मच्चेष्टितं शिशोस्तव आनृण्यं भुवि भवति किं, नैवं भवतीत्यर्थः । 'मुग्धो मूढे सुन्दरे च' इति शब्दस्तोममहानिधिः । 'कीलालममृतं जलम्' इत्यमरः । 'अजन्यं क्लीवमुत्पातः उपसर्गः समं त्रयम्' इत्यमरः । सोढा इति 'ण्वुल्तृचौ' इति पाणिनिसूत्रेण सहेः कर्तरि तृचि रूपम् ।

फिर स्वयं नृसिंह देव ने कहाः—

हे पुत्र प्रह्लाद ! शिशु की हत्या करने वाले इस पापी ने जो तुम्हें क्लेश दिया, वह केवल इसलिए कि तुम मेरे भक्त हो और तुमने भी इसी लिए उन क्लेशों को सहा कि ये क्लेश भगवान् के लिए सहना पड़ रहा है, ऐसी स्थिति में तुम्हीं कहो कि जो कुछ तुम्हारा भक्ति-ऋण है, उसका अपहार किसी साधन से हो सकता है ? देखो, उस पापी ने तुम्हें जलक्लिन्न किया, हे मुग्ध (भोले बालक) । फिर तुम वह्नि में जलाये गए । इसी प्रकार विभिन्न उपद्रवों, प्रहारों, शिखर-पातन, एवं अति दारुण विष के प्रयोगों से तुम सताए गए, इतना ही नहीं सर्पों के दंशों से भी तुम पीड़ित किए गए ॥

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ १२ ॥

अपि च—

प्रह्लाद तात किमदेयमिहास्ति तुभ्यम्
आत्मानमर्पितवतोऽपि ममास्ति लज्जा ।

उक्त्वेत्यसौ रसनया परिलेह्यमानः
शान्तिं जगाम करुणावरुणालयेन ॥ १२ ॥

प्रह्लादेति—हे तात प्रह्लाद! इह जगति तुभ्य किमदेयमस्ति। त्वं सकलस्य वस्तुजातस्य भाजनमसि जात एतेन मदनुरागेण, आत्मानं समर्पितवतो दत्तवतोऽपि मम लज्जैवास्ति। अर्थात् हे प्रह्लाद! यद्यपि त्वद्भक्त्याऽतितुष्टोऽहं तुभ्यं स्वमेवार्पितवानस्मि तथापि त्वद्भक्तेस्तेनापि अहमनृणो न जातोऽस्मीति, अत एवेयं लज्जा मां निशुरयति इति भावः। करुणावरुणालयेन दयासमुद्रेण श्रीनृसिंहेन इत्युक्त्वा इत्थं गदित्वा वात्सल्येन रसनया जिह्वया परिलेह्यमानः असौ प्रह्लादः शान्तिं शमं जगाम प्राप।

और भी—

हे तात प्रह्लाद! इस संसार में तुम्हारे लिये क्या अदेय है? यदि मैं तुम्हें अपने आप को भी समर्पित करूँ, तो भी मुझे [तुम्हारी भक्ति को देखकर] लज्जा या सङ्कोच ना ही अनुभव होता है। इस प्रकार कहकर वह करुणावरुणालय नृसिंहदेव वात्सल्य के आवेश में प्रह्लाद को अपनी जिह्वा से चाटने लगे और इस स्पर्श अथवा वात्सल्य के कारण प्रह्लाद भी नितान्त सुखी हुए॥

छन्दः—SSI SII ISI ISI SS वसन्ततिलका ॥ १२ ॥

गृहनिबद्धशिशवस्तृणोपजीविनः पशवोऽपि स्नेहार्द्रचित्ताः स्वाहारं परिहाय सत्वरमेव गृहमागत्य वात्सल्येन वत्सानपि निम्नयन्ति। किं च गृहेशं वञ्चयित्वा पाययन्ति च। तथा पक्षिणोऽपि चंचूपुटसंगृहीतकवलान् तरुशिरोविहितनीडनिहितशिशूनां मुखेऽर्पयन्ति। तथा केऽपि दयालवः पुमांसः परकीयपाकानवलोक्य दोर्भ्यामालिंग्य मुखमाचुम्ब्य लालयन्ति। परन्त्वस्य बालघातिनः कपटपटीयसः पापीयसो नैष्ठुर्यमलौकिकमवलोकितम्। आश्रयपरित्यागलक्षणदोषदूषितत्वात् पुत्रस्य पित्राऽस्यमार्गोऽद्रेपि इति चेत् तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिदोषोपहतबालाः पितृभिः किं न निहन्यन्ते इति।

गृहेति—किं च, हे प्रह्लाद! गृहे निजसदने नियद्धाः प्रतिबद्धाः रज्ज्वादिना इत्यर्थः। शिशवोऽर्भकाः वत्सा इत्यर्थः। येषां ते तृणोपजीविनः तृणैरुपजीवन्ति तच्छीलाः स्नेहेन प्रेम्णा आर्द्रं स्निग्धं क्लिन्नं चित्तं चेतो येषां ते पशवोऽपि गवादयोऽपि स्वाहारं परित्यज्य सत्वरं सदिस्येव वनाद् गृहमागत्य वात्सल्येन वत्सलतया निजवत्सान् अर्भकान् अपि निम्नयन्ति निम्नान् कुर्वन्ति। वात्सल्येन स्वयं च सायत्ताः सन्तो वत्सानपि वात्सल्येन स्वायत्तान् कुर्वन्तीत्यर्थः।

'अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ' इत्यमरः। गृहेशं गृहस्वामिनं वञ्चयित्वा प्रतार्य स्ववत्सान् पयः पाययन्ति चेत्यर्थः।

तथा—तथैव पक्षिणोऽपि विहगा अपि चंचूपुटैः निजतुण्डैः संगृहीता आनीताश्च ते कवला ग्रासाश्च इति तान्। अत्र 'चंचूपुटसंगृहीतान् कवलान्' इति व्यासेन पाठ्यम्। कवलसंग्रहस्य विधेयत्वात्। अन्यथा बहुव्रीह्यर्थावगमादनिष्टप्रसक्तिः। तरूणां वृक्षाणां शिरस्सु शिखरेषु विहितेषु कृतेषु नीडेषु कुलायेषु निहितानां धृतानां (स्व) शिशूनाम् अर्भकाणां मुखे आनने अर्पयन्ति ददति, तरुशिखरेषु स्वनीडेषु धृतान् स्वार्भकान् चञ्चूपुटैरितस्ततोऽन्नकणादि आनीय तेभ्योऽर्पयित्वा तान् पुष्यन्तीत्यर्थः। तथा केऽपि विरला इत्यर्थः, दयालवः दयार्द्रचित्ताः पुमांसः पुरुषाः परकीयान् स्वेतरान् पाकानर्भकानवलोक्य दोर्भ्यां भुजाभ्यामालिङ्ग्याश्लिष्य मुखं तेषामाननमाचुम्ब्य चुम्बयित्वा लालयन्ति लाडनं कुर्वन्ति। किन्तु अस्य सुरारेर्हिरण्यकशिपोस्तु अलौकिकं विलक्षणं नैष्ठुर्यं क्रौर्यमवलोकितं दृष्टम्। कीदृशस्यास्य हिरण्यकशिपोरित्याकांक्षायामाह—बालघातिनः स्वार्भकहत्याकारिणः, कपटेषु पटीयसः पटुतरस्य कुशलतरस्येत्यर्थः। पापीयसोऽतिपापकारिणः। आश्रयस्य स्वपितुर्मार्गस्य परित्यागलक्षणः परिहाणलक्षणो यो दोषोऽपराधः तेन दूषितत्वात् आगस्कृत्त्वादित्यर्थः, तेन दैत्याधिपेन पित्रा जनकेनापि सता पुत्रस्य निजापत्यस्य प्रह्लादस्य अस्वमार्गः प्रह्लादस्वीकृतनिजेतरमार्ग एव अद्वेपि दिद्विषे। न तु प्रह्लादोऽद्वेपि इति चेदुच्येत, तदप्यसत्, यतः तदुत्पन्नेति। तस्मात् पितुः उत्पन्नमात्रश्चासौ अपस्मारादिदोषैरुपहतश्चेति तदुत्पन्नमात्रापस्मारादिदोषोपहतः स चासौ बालश्चेति। अर्थात् यदि कस्यचित् पुत्रः कश्चिज्जायमान एवार्भकः अपस्मारादि (मृगी इत्यादि) दोषैः (रोगैः) उपहन्येत परिगृह्येत तदा किम् ईदृशो बालः पितृभिर्निहन्यते, न निहन्यते इति दैत्येन्द्रेण प्रह्लादं विलक्षताऽतितरामागोऽकारीति भावः। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। 'पोतः पाकोऽर्भकः डिम्भः' इत्यमरः। अपस्मार इति अपगतः स्मारः स्मरणं यस्मात् (मिरगी) इति ख्यातो रोगभेदः। एतस्मिन् रोगे जाते रोगिणः सर्वविषयस्मृतिर्नश्यति।

और भी—

तृण खाकर जीने वाले पशु भी, जिनके बच्चे उनसे पृथक् करके घर में बाँधे हुए हैं, सदैव स्नेह-पूरित चित्त हो अपने भोजन का परित्याग कर शीघ्र ही गृह को लौट आते हैं और वात्सल्य के द्वारा अपने बच्चों को वशीभूत कर लेते हैं; यही नहीं गृहस्वामी को ठगकर उन्हें अवशिष्ट दूध भी पिलाते हैं। इसी प्रकार पक्षिगण भी अपने अपने चंचुपुट में ग्रासों को संगृहीत कर वृक्ष के शिरोभाग में निर्मित नीड (घोंसला) में पड़े हुए बच्चों के मुख में अर्पित करते हैं। तथा कुछ दयालु लोग परकीय शिशुओं को देखकर अपनी भुजाओं से उनका आलिङ्गन कर लेते हैं और मुख चूम चूम कर उन्हें

दुलारते हैं । परन्तु इस कपट-पटु बालहत्यारे पापी के नैष्ठुर्य को मैंने अलौकिक ही देखा । पिता के आचरित मार्ग का परित्याग ही दोष था और उससे दूषित होने के कारण परकीय मार्ग का विरोध हिरण्यकशिपु ने किया, न कि प्रह्लाद का, तो यह तर्क भी सर्वथा हृदयङ्गम नहीं होता । कारण यह है कि अपना पुत्र अपस्मार आदि से ग्रस्त हो जाय तो क्या वह मार डाला जाता है ?

दीर्घायुर्भव विक्रमी भव भव क्षोणीशचूडामणिर्
लोकान् पालय वत्स ! लालय सुतान् शश्वद्यशस्वी भव ।
नित्यं मच्चरणारविन्दयुगलध्यानावधानक्षण-
प्रोद्भूते प्रशमोपपन्न-परमानन्दे निमग्नो भव ॥ १४ ॥

दीर्घायुरिति—दीर्घं चिरमायुर्यस्य स दीर्घायुः चिरायुर्भव । हे प्रह्लाद ! त्वं दीर्घायुरेधि । विक्रमी पराक्रमी भव, क्षोणीशानां पृथ्वीशानां चूडामणिरग्रणीर्भव । त्वं चक्रवर्ती सम्राट् भवेत्यर्थः । हे वत्स ! प्रह्लाद ! त्वं लोकान् पालय, सुतान् स्वपुत्रान् लालय, त्वं पुत्रपौत्रवान् भवेत्यर्थः । शश्वद् यावच्चन्द्रदिवाकरौ यशस्वी भव । किं च हे प्रह्लाद ! एवं भाग्य-सौभाग्ययुक्तस्त्वं मम चरणारविन्दयोः मत्पादपद्मयोः युगलस्य युगस्य ध्यानाय यदवधानं मनस एकाग्रतापादनं तत्क्षणे प्रोद्भूतः सञ्जातः यः प्रशमः शान्तिः, (आन्तरिकी शान्तिरित्यर्थः) तेन उपपन्ने उपनते परमानन्दे अतिशयितसच्चिदानन्दसुखे सर्वोत्कृष्टे रसे निमग्नः भव । 'क्षौणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः ।

अत्र प्रबन्धे दुर्दशाग्रस्तः शोच्यः प्रह्लादः आलम्बनविभावः । तस्य घातपात-दन्दशूकदंशन-दाहादयः उद्दीपनविभावाः । स्वानुतापव्यञ्जकानि 'कालेऽक्लेदितोऽसि' इत्यादीनि आशीर्वादपराणि चान्यानि भगवद्वाक्यानि अनुभावाः, रसनया परिलेहनं च । करुणया परिलेहमान इत्युक्त्या करुणा—'आगमानमपि तवतोऽपि ममास्ति एवा' इति एवा अन्येऽपि च विषादादयः उन्नेयाः सञ्चारिभावाः । एभिरभिव्यक्तः प्रह्लादविषयको भगवतः शोकः सामाजिकैः करुणरसत्वेनास्वाद्यते ।

हे पुत्र प्रह्लाद ! तुम दीर्घायु हो, पराक्रमी हो; पृथ्वी में सर्वोच्च हो और लोकों का पालन करो । हे वत्स ! अपने पुत्रों का लालन करो और शाश्वत यशस्वी बनो नित्य प्रति मेरे चरणारविन्दों के ध्यान के लिए की हुई चित्त की एकाग्रता के समय प्राप्त शान्तिवश सर्वातीत आनन्द में निमग्न रहा करो ।

छन्द—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

नेदुर्दुन्दुभयो दिवि प्रतिरवैरानन्दसान्द्रं नभः
पुष्पैर्नाकनिवासिनोऽपि ववृषुर्विद्याधराः मंजगुः ।
प्रह्लादेऽधिकभाग्यभाजि निभृतं प्राप्तप्रसादे हरेर्
अस्तौषीत सुरसिद्ध-चारणगणः श्रीमन्नृसिंहं प्रभुम् ॥ १५ ॥

नेदुरिति—प्रह्लादे हरेर्नृसिंहस्य सकाशात् निभृतं निःशब्दं प्राप्तप्रसादे प्राप्तः लब्धः प्रसादोऽनुग्रहो येन तस्मिन् आशीर्वादवाक्यप्रयोगं विना नृहरेः संकल्पेनैव लब्धानुग्रहे इत्यर्थः। अतएव अधिकं निरतिशयं भाग्यं भजते इति तस्मिन् (प्रह्लादे) जाते सुराणां देवानां सिद्धानां देवविशेषाणां चारणानां कुशीलवानां च गणो वृन्दं श्रीमन्नृसिंहं प्रभुं नारायणम् अस्तौषीत् तुष्टाव। किं च तदवसरे दिवि दुन्दुभयः भेर्यः नेदुः अनदन्, प्रतिरवैस्तत्प्रतिध्वनिभिः नभो व्योम आनन्दसान्द्रं घनानन्दम् अभवदिति शेषः। नाकनिवासिनो दिवौकसोऽपि पुष्पैः प्रसूनैः ववृषुः अवाकिरन् नृसिंहमिति शेषः। विद्याधराः देवविशेषाः संजगुः गायन्ति स्म। 'कै गै शब्दे' इति धातोर्लिटि रूपम्। ववृषुरिति 'वृष सेचने' इति धातोर्लिटि रूपम्। धातूनामनेकार्थत्वेनार्थनिर्देशस्योपलक्षणत्वेन चात्रावकिरणमित्यर्थः।

प्रह्लाद ने जब चुपचाप भगवान् का प्रसाद प्राप्त कर लिया और जब वे निरतिशय भाग्यशाली होगए, तब स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बज उठीं और उनकी प्रतिध्वनि से सारा आकाश आनन्द लहरी से व्याप्त हो उठा—स्वर्गवासियों ने पुष्प-वृष्टि की; विद्याधरों ने गान किया। सुर, सिद्ध, एवं चारण लोगों ने प्रभु नृसिंह का स्तवन किया॥

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम्॥ १५॥

तत्र प्रथमं सुरगुरुः युग्मेन नृहरेः कीर्तिं वर्णयति—

'कीर्ते! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवा स्वर्धुनीयं धुनीते
सद्यः सन्तापमन्तः कलिकलिलमलं मज्जनान्मज्जनानाम्
आविर्भूता प्रभूता प्रभुवर भवतश्चक्रपाणेस्तु पाणे-
र्लोकः शोकं वियुंक्ते सकृदकृतकृतिर्मत्समाकर्णनेन॥ १६॥
हस्तन्यस्ता विधात्रा सततमिह शिरोभूषणं याति शान्त्यै
शम्भोरम्भो यदीयं सलिलभवशुषः कर्णवासः शिवस्य।
भाले बालेन्दुरास्ते निभृतमिति हरेर्जाह्नवीपक्षपातं
दृष्ट्वा रुष्टेव कीर्तिस्त्रिभुवनजठराद् दूरदेशं जगाम॥ १७॥

कीर्तिं वर्णयतीति—कीर्तिर्भगवतोः परस्परमुक्तिप्रत्युक्तिभ्यामिति शेषः। तत्र पूर्वं कीर्तिं प्रति भगवद्वाक्यं गङ्गास्तुतिपरम्। हे कीर्ते! त्रैलोक्यमूर्तेर्मम चरणभवेयं स्वर्धुनी। त्रैलोक्यमूर्तित्वेन गङ्गाया मच्चरणभवत्वमुपपद्यते इति भावः। मज्जनात् स्नानात्, मज्जनानां मद्भक्तानाम्। कलिकलिलमलम् कलिगहनपापम् अन्तःसन्तापञ्च सद्यो झटिति धुनीते निरस्यति। ततः कीर्तिराह—हे प्रभुवर! अहं

चक्रपाणेर्भवतः पाणेराविर्भूता जाता प्रभूता गङ्गातो विपुला च। अयं भावः— खड्गादिप्रभवा कीर्तिरित्यभ्युपगमादहं भवतः पाणिस्थितचक्राज्जातेति पाणिजाता गङ्गा तु पादजाताऽहं प्रभूता महती गङ्गा तु मदपेक्षयाल्पेति गङ्गां स्पर्धयैव प्रहसतेति। किञ्च सकृत् एकवारमपि अकृतकृतिः अकृतकिञ्चित्प्रयत्नोऽपि लोकः। सकृदिति मत्समाकर्णनेनेत्यनेन चान्वेति। मत्समाकर्णनेन मच्छ्रवणेन शोकं वियुङ्क्ते स्वतो वियुक्तं करोति। गङ्गायाः संतापकलिमलनाशकत्वं मज्जनरूपपुरुषव्यापारसापेक्षं मम तु लोकशोकवियोजकत्वं पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षं श्रवणमात्रप्रयुक्तमिति मम गङ्गातो वैशिष्ट्यमिति भावः। ततो भगवान् पुनराह— विधात्रा जगत्स्रष्ट्रा ब्रह्मणाऽपि गङ्गासदृशीं सृष्टिं कर्तुं शक्तो न गङ्गाम्। हस्तन्यस्ता—हस्ते कमण्डलौ न्यस्ता। किञ्च या गङ्गा इह लोके सततं शम्भोः शिरोभूषणम्। किञ्च यदीयं गङ्गासम्बन्धि अम्भो जलं मलिनमवधूय अब्धिभवेन कालकूटेन शुष्यतः शम्भोः शान्त्यै याति प्रभवतीत्यर्थः। इत्थं भगवद्वाक्यमाकर्ण्य कीर्तिर्मनसि निभृतं निःशब्दं विचारितवती न तु भगवन्तं प्रत्युक्तवती रोषात्। मम शिवस्य कर्णवासः। सततं मां शिवः स्पृहया शृणोतीति भावः। अन्यच्च मत्स्वरूपभूतो बालेन्दुः सततं शिवस्य भाले अस्ति। एवं शिवः शिरःस्थितामिव मामयं न पश्यति तत्रत्यां गङ्गां तु पश्यतीति निभृतं हरेर्जाह्नवीपक्षपातं दृष्ट्वा विचार्य अतः परमनुक्त्वा रोषेण कीर्तिस्त्रिभुवनजठराद् त्रैलोक्यमध्याद् दूरदेशं जगाम॥ त्रैलोक्यमूर्तेर्विष्णोः स्वरूपसंनिधिपरिजिहीर्षयैवेति भावः। त्रैलोक्यादपि अधिकदेशव्यापिनी तव कीर्तिरिति भणितम्।

उनमें सबसे पहले सुरगुरु ने दो श्लोकों से नरहरि की कीर्ति गाई—

[कीर्ति के प्रति भगवान् का पहला पहला गङ्गास्तुतिपरक वाक्य है]

हे कीर्ति! मुझ त्रिलोकात्मा के चरणों से उत्पन्न हुई यह गङ्गा स्नान के फलस्वरूप मनुष्यों के आन्तरिक सन्ताप एवं कलिकाल के गहन पापों को अविलम्ब नष्ट कर देती है। [यह सुनकर कीर्ति कहती है—] हे प्रभुवर! मैं तो चक्रपाणि विष्णु के पाणि से (पराक्रमवश) उत्पन्न हुई हूँ और गंगा से बड़ी बड़ी हूँ। दूसरी बात यह है कि कोई एक बार भी बिना किसी शारीरिक या मानसिक यत्न के मेरा श्रवण कर ले तो निश्चित ही वह शोकमुक्त हो जाता है।

अलङ्कार—व्यतिरेक। छन्द—SSS SIS SI I I ISS ISS स्रग्धरा॥ १६॥

[भगवान् ने फिर कहा—] देखो, इस गंगा को ब्रह्मा ने हस्तगत कमण्डलु में धारण कर रखा है, और इस संसार में वह सदैव शिव का शिरोभूषण बनी हुई है। इतना ही नहीं, यही वह गङ्गाजल है, जिसने समुद्र से निकले हुए विष के महागरलरूप सूखते हुए शम्भु को शान्त किया था। [फिर कीर्ति ने अपने मन में सोचा—] मैं शिव

ने कानों में वास करती हूँ अर्थात् शिव मुझे सदैव सादर सुनते रहते हैं और दूसरे यह कि मेरा स्वरूपभूत बालेन्दु (श्वेत होने के कारण) भी तो शिव के भाल पर विराजमान है; फिर क्यों भगवान को इतना जाह्नवी पर पक्षपात है ? लगता है इसी पक्षपात को देख कर कीर्ति उनसे रूठ गई और त्रिभुवन के बाहर बहुत दूर चली गई ॥

अलंकारः—उत्प्रेक्षा, व्याजस्तुति । छन्दः—स्रग्धरा ॥ १७ ॥

सर्वे स्वर्गनिवासिनः सुरवराः स्वस्वाधिकारस्थिराः
त्वत्सेवारससादराः सरभसं पीयूषपानादराः ।
स्वर्वेश्याकुचकुम्भसंभृतिपरारम्भोत्सवैर्निर्भराः
तत्र श्रीनृहरे ! चिरं तव कृपापाङ्गः परं कारणम् ॥ १८ ॥

सर्वे इति—हे श्रीनृहरे ? श्रीनृसिंह ? यत्स्वर्गनिवासिनः स्वर्गौकसः सर्वे अपि सुरवराः अमराः स्वे स्वे अधिकारे स्वस्वकर्तव्यकर्मणि स्थिराः व्यापृताः सन्ति, यच्च ते देवाः त्वत्सेवारससादराः तव सेवारसे सादराः निस्पृहाः विद्यन्ते, तथा सरभसं सहर्षं पीयूषपाने अमृतपाने आदरः येषां ते सन्ति, यच्च ते देवाः स्वर्वेश्यानां स्वर्गस्थानामप्सरसां कुचाः स्तना एवं कुम्भाः घटास्तेषां सम्भृतिपराः सन्धारणपरायणाः रम्भोत्सवैः रम्भानाम्न्याः अप्सरसः उत्सवैर्महैः निर्भरा युक्ताः सन्ति, तत्र सर्वत्र चिरं चिरकालात् तव भगवतः कृपापाङ्गः कृपाकटाक्षः एव कारणं निदानं वर्तते इति शेषः। दिवौकसामपि निरतिशयानन्दस्य सर्वविधैश्वर्यप्रपञ्चस्य च त्वमेव निदानमितरेषां भूलोकादिवासिनां मर्त्यादीनां तु सुखादेः त्वं कारणमिति किमु वाच्यमिति भावः। 'वेगे हर्षे औत्सुक्ये रभस' इति शब्दस्तोममहानिधिः। 'निर्भरोऽतिमात्रे तद्युक्ते' इति च। 'अपाङ्गो नेत्रप्रान्ते तिलके च' इत्यपि। 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः।

हे नृसिंहदेव ! ये स्वर्गवासी सभी देवगण जो अपने अपने अधिकारों में भलीभाँति संलग्न हैं, तुम्हारी सेवा में इतनी आदरबुद्धि दिखाते हैं, और जो निरन्तर पीयूषपान में तत्पर रहा करते हैं, जो बराबर स्वर्गीय वेश्याओं के कुचकुम्भमर्दन में निरत रहा करते हैं, जो रम्भा नामक अप्सरा के नर्तनोत्सव में मग्न रहा करते हैं, सो सब तुम्हारी कृपाकटाक्ष का ही फल है।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १८ ॥

चारणाः—

त्वद्दोर्दण्डप्रतापप्रचुरहुतवहात् संप्रतप्तोऽयमग्निः
मग्नोऽम्भोधावगाधे प्रतिजठरमपि प्राणभाजां प्रविष्टः ।

योऽसौ न क्वापि लीनः स खलु नरहरे गाढमूर्च्छां प्रपन्नो
जीवत्यद्यापि लोके व्यजनमुखमरुद्वीज्यमानः समन्तात् ॥ १९ ॥

त्वदिति—हे नरहरे ? हे नृसिंह ? प्रसिद्धोऽयमग्निर्वह्निः तव दोषायेव भुजा सेव दण्डौ तयोः प्रतापोऽनुभाव एव प्रचुरः प्रभूत हुतवहः अग्नि तस्मात् सन्तप्त तेन तापितः सन्नित्यर्थः। अगाधे प्रतिष्ठारहिते अम्भोधौ जलधौ मग्नः काल नयति प्राणभाजां शरीरिणा प्रतिजठर जठरे जठरे सर्वस्य जठरे उदरे प्रविष्टः मुमुक्षुः सन् काल नयति। यश्च तस्यैवाग्नेरशभूतः क्वचिदपि न लीन नात्मानं प्रच्छादितवान् सोऽनलः गाढां मूर्च्छां चेतनाराहित्यं प्रपन्न आपन्नः सन् समन्तात् सर्वतः व्यजन मुखमरुता व्यजनादिवायुना व्यजनमुखमरुद्भ्यां वा वीज्यमानः कथं चित् अद्यापि लोके जीवति प्राणान् धारयति। त्वद्भुजप्रतापाग्निना तिरस्कृतोऽयं प्राकृतोऽग्नि निस्तेजस्क इव तिष्ठतीत्यर्थः। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। हुतमग्नौ प्रक्षिप्त हविरादि वहति देवान्प्रापयति इति हुतवहोऽग्निः।

हे नरहरि! तुम्हारी भुजाओं से जनित प्रचुर प्रतापरूपी अग्नि ने जगत् की प्रसिद्ध अग्नि को पर्याप्त सतप्त कर दिया; यही कारण है कि सासारिक अग्नि अगाध सागर के तल में (वाडवाग्नि के रूप में) जाकर छिप गई, [उससे भी बची, तो प्रत्येक प्राणी के जठर में (जाठराग्नि के रूप में) तिरोहित हो गई, और जो कहीं न लीन हो सकी, उसे गाढ़ मूर्च्छा हो गई, तो उसीका फल है कि आज ससार में चारों ओर मुँह से फूँक फूँक कर लोग उसे होश में लाते हैं—जिलाते हैं।

छन्दः—SSS SIS SII III ISS ISS ISS स्रग्धरा ॥ १९ ॥

सिद्धः—

सूत्रप्रोतविचित्रवर्णमणिवद् यस्मिन् जगद् वर्तते
यस्मिन्नेव जले तरङ्गवदिदं संजायते लीयते।
यस्तत्कर्मविवर्जितः सलिलवत् साक्षी सहस्रांशुवत्
तं त्वां श्रीनृहरे पुराणपुरुषं कः स्तोतुमीशो भवेत् ॥ २० ॥

सूत्रेति—अथानन्तरं सिद्ध उवाच। हे श्रीनृहरे! पुराणपुरुषं पुरातनं त्वां कः स्तोतुमीशः समर्थो भवेत् न कोऽपि त्वां स्तोतुमीष्टे इत्यर्थः। कीदृशं त्वामित्याह यस्मिन्निति। यस्मिन् त्वयि इदं पुरो दृश्यमानं जडाजडात्मकं जगत् सूत्रे प्रोता स्यूताः विचित्रवर्णा विविधरङ्गा मणयो रत्नानीव वर्तते इति शेषः। यस्मिन्नेव यस्मिश्च भवति इदं जगत् जले तरङ्गवत् वीचिवत् संजायते उत्पद्यते पश्चाच्च लीयते तत्रैव सहलिमुपैति। यश्च त्वं तत्कर्मविवर्जितः जगतो विविधैः कर्मभि न सम्पृच्यसे नलिनपत्रं सलिलमिव उदासीनः सन् तिष्ठसि। यद्वा एतिदं तत्

तरङ्गव्यापाररहितं 'प्रशान्तं तद्वज्जगद्व्यापाररहितस्त्वं प्रशान्त इत्यर्थः। यश्च त्वं सहस्रांशुवत् आदित्य इव सर्वेषां साक्षी भूत्वा तिष्ठसि। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः' 'ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देह-संश्रिताः। सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित्' इत्यादि श्रुतेः स्मृतेश्च। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति च श्रुतेः।

इति श्रीनृसिंहचम्पूकाव्ये चतुर्थोच्छ्वासः।

फिर सिद्ध ने प्रार्थना की:—

जिस परमात्मा में यह संसार सूत्र में मणि की भाँति पिरोया हुआ है, जिसमें, जल में तरंग की भाँति, संसार उदित और लीन होता रहता है, जो सांसारिक कर्मों से सर्वथा जल की भाँति असंपृक्त रहता है, जो सूर्य के समान निर्लिप्त भाव से जगत् का साक्षी है, हे नृहरि! वैसे तुझ परम एवं पुराणपुरुष की स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है?

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित ॥ २० ॥

नृसिंहचम्पू का यह चतुर्थ उच्छ्वास समाप्त।



अथ पञ्चम उल्लासः

अथ शृङ्गारः—

यद्वदनेन्दोरुदये हरेश्चकोरायितं च नेत्राभ्याम् ।
तल्लावण्यनिधानं रमाभिधानं महः प्रययौ ॥ १ ॥

यदिति—वदनमिन्दुरिव वदनेन्दुः । यस्या रमायाः श्रियः वदनेन्दोः मुखचन्द्रस्य उदये हरेः श्रीविष्णोः नेत्राभ्यां नयनाभ्यां चकोरायितम् चकोराभ्यामिवाचरितम् । लावण्यस्य निधानं निधिं रमाभिधानं रमाभिधेयं महः तेजः प्रययौ श्रीहरिरुपजगाम । प्रह्लादप्राप्त्या कारुण्योदयेन क्रोधापगमे सिद्धादिस्तुत्या प्राप्तप्रसादे च भगवति अथ क्रीडावसर इति ज्ञात्वा रमा प्राप्तेति भावः । 'महस्तूत्सवतेजसोः' इत्यमरः । 'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इत्युक्तो देहसौन्दर्यभेदो लावण्यम् । चकोरः पक्षिविशेषः ।

अब शृङ्गार का वर्णन आरम्भ करते हैं—

जिसके वदनरूपी चन्द्र के उदित हो जाने पर भगवान् के नेत्र चकोर की लीला धारण कर लेते हैं, उस लावण्यसागर रमा नामक तेजोराशि के समीप भगवान् पहुँच गए ॥

छन्दः—आर्या ॥ १ ॥

किं वर्णनीयमस्याः कविवर्यैः सौकुमार्यमार्यायाः ।
जननं क्षीरसमुद्रे मन्दिरमिन्दीवरं यस्याः ॥ २ ॥

किमिति—कविवर्यैरस्मादृशैरन्यैर्वा कविशिरोमणिभिः आर्यायाः 'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः' इत्युक्तलक्षणाया उदारचरिताया अस्या रमायाः लक्ष्म्याः सौकुमार्यं सुकुमारता किं वर्णनीयं न वर्णयितुं शक्यते इत्यर्थः । यस्याः रमाया जननमुत्पत्तिः क्षीरसमुद्रे जातमिति शेषः । यस्याश्च मन्दिरं निलयः इन्दीवरं नीलोत्पलम् । यस्याः श्रियः उत्पत्तिस्थानं क्षीरसमुद्रः, आलयश्च साम्प्रतमिन्दीवरं द्वयमपि लोकोत्तरमिति तस्याः किमु वाच्यं सौकुमार्यमिति भावः ।

उस आर्या के सौकुमार्य का कविवर क्या वर्णन करेंगे, जिसकी उत्पत्ति ही क्षीरसागर से है और जिसका मन्दिर स्वयं कमल है ॥

छन्दः—आर्या ॥ २ ॥

अपि च—

सौन्दर्येण भृशं दृशोर्नरहरेः साफल्यमातन्वती
सभ्रूभङ्गमपाङ्गवीक्षणवशादाकर्षयन्ती मनः ।

स्फूर्जत्कङ्कणकिङ्किणीगणझणत्कारैः कृतार्थे श्रुती
कुर्वन्ती शनकैर्जगाम जगतामाश्चर्यदायी रमा ॥ ३ ॥

सौन्दर्येनेति—अङ्गप्रत्यङ्गानां यः सन्निवेशो यथोचितम् । 'सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात् तत् सौन्दर्यमुदाहृतम्' इत्युक्तलक्षणेन सौन्दर्येण नरहरेः नृसिंहस्य दृशोर्नयनयोः भृशमतिशयेन साफल्यं सफलतामातन्वती विदधाना । भ्रुवोर्भङ्गः भ्रूभङ्गः भ्रूसञ्चारः तेन सहितं सभ्रूभङ्गम् । अपाङ्गाभ्यां नेत्रप्रान्ताभ्यां वीक्षणं दर्शनं तस्य वशात् कारणात् सभ्रूभङ्गकटाक्षदर्शनात् हेतोरित्यर्थः । हरेर्मनो मानसमाकर्षयन्ती स्ववशमानयन्ती तथा स्फूर्जन्तीनां क्वणन्तीनां कङ्कणकिङ्किणीनां करभूषणक्षुद्रघण्टिकानां 'किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इत्यमरः । गणानां निकराणां झणत्कारैः झणझणध्वनिभिः श्रुती कर्णौ कृतार्थे कृतकृत्ये कुर्वन्ती जगतां लोकानामाश्चर्यदात्री विस्मयोत्पादिनी रमा श्रीः मन्दं जगाम श्रीहरिं प्राप । 'अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः । 'वेदे श्रवसि च श्रुतिः' इत्यमरः । 'कङ्कणं करभूषणम्' इत्यमरः ।

हरि के नेत्रों को अपने सौंदर्य से अत्यधिक सफल बनाती हुई नेत्रों के प्रान्तभाग से देखने के कारण कटाक्षपात [आदि विलासमयी] चेष्टाओं से उनके चित्त को आकृष्ट करती हुई तथा झनझनाते हुए कङ्कण एवं किङ्किणी के मधुर स्वर से उनके कर्णों को कृतार्थ करती हुई संसार को आश्चर्यान्वित करने वाली रमा भी धीरे-धीरे उनके समीप पहुँची ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

अपि च—

अन्योऽन्यं परिपश्यतोः सरभसं प्रेमप्रसङ्गोत्सवाद्
ईषत्स्मेरमुखाब्जयोरतितरां यूनोरनूनश्रियोः ।
श्रीश्रीवल्लभयोः क्षणं विरहतः प्रोद्यत्समुत्कण्ठयो-
र्भूयासुर्जगतः शिवाय सततं संकेतभाजो दृशः ॥ ४ ॥

अन्योन्यमिति—सरभसं सहर्षमन्योन्यमितरेतरं परिपश्यतोरवलोकयतोः, प्रेमप्रसङ्गोत्सवात् प्रेम्णः स्नेहरसस्य प्रसङ्गोऽवसरः तस्य उत्सवात् ईषत् किञ्चित् स्मेरे विकसिते मुखाब्जे मुखकमले ययोस्तयोः, अनूनश्रियोः न ऊना हीना श्रीः शोभा ययोस्तयोः सम्पूर्णशोभयोरित्यर्थः, विरहतः वियोगाद्धेतोः प्रोद्यत्समुत्कण्ठयोः प्रोद्यन्ती प्रोच्छ्रन्ती समुत्कण्ठा औत्सुक्यं ययोस्तयोः अतितरामत्यर्थं, यूनोः युवा च युवतिश्च तयोः 'पुमान् स्त्रिया' इति युवशब्दस्य शेषः श्रीश्रीवल्लभयोः श्रीश्च श्रीवल्लभश्च तौ, तयोः लक्ष्म्याः नृसिंहस्य च, क्षणमीषत्कालं, सङ्केतभाजः सङ्केत भजन्ते इति सङ्केतभाजः दृशः लोचनानि, सततं निरन्तरं, जगतः

संसारस्य शिवाय मङ्गलाय भूयासुः भवन्तु। 'इष्टलाभे औत्सुक्ये च उत्कण्ठा' इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

और भी—

उस प्रेम के प्रसङ्ग में एक दूसरे को आँखों से देखते हुए, थोड़ा मुस्कराते वदन वाले, परस्पर अतिरेकी शोभा वाले, क्षणभर के पारस्परिक विरह से भी उत्कण्ठित हो जाने वाले श्री एवं श्रीवल्लभ के शृङ्गारिक सकेतों से भरे हुए नेत्र संसार के कल्याणार्थ सतत बने रहें ।

छन्दः—SSS IIS ISI IIS SSI SSI S शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ४ ॥

लक्ष्मी —

यद्यप्यदृष्टपूर्वं सिंहमुखं ते तथापि न भयं मे ।
चिरतरकृतपरिचरणौ चरणौ करुणानिधे यतो वेद्मि ॥ ५ ॥

यद्यपीति—हे करुणानिधे ! दयासागर श्रीनृसिंह ! यद्यपि ते तव इदं सिंहमुखं सिंहाकृतिवदनम् , अदृष्टपूर्वं पूर्वं कदापि न मया लोचनगोचरीकृतं तथापि मे मम त्वत्तो भयमातङ्को नास्ति। यतो यस्माद्धेतोः चिरतरात् चिरकालात् कृत परिचरणं सेवनं ययोस्तौ ते चरणौ पादौ अहं सम्यक् वेद्मि जानामि परिचितोऽस्मीत्यर्थः ।

हे करुणानिधि ! यद्यपि तुम्हारा यह सिंह की आकृति वाला मुँह मैंने कभी नहीं देखा है, तथापि मुझे इससे कोई भय नहीं है। इस निर्भयता का कारण यह है कि मैं तुम्हारे उन चरणों को अच्छी तरह पहचानती हूँ, जिनकी सेवा चिरकाल से की गई है।

अलङ्कारः—' परिचरणौ चरणौ'—में यमक नामक अलङ्कार है।

छन्द —यह 'आर्या' का 'गीति' नामक एक प्रभेद है। यह मात्रिक छन्द है। इसमें ७। गण होते हैं। प्रत्येक गण ४ गुरु के होते हैं। इसके दोनों चरणों में ३० मात्राएँ हैं ॥ ५ ॥

ततः सकललावण्याधिष्ठानमिन्दिरापि जगज्जनमनोमोहनाञ्जमिव रूपं, भ्रूचापनिहितनिशितविशिखमिव कटाक्षं मदमुदितमातङ्गगतिविलासं चरणरणन्मणिनूपुरविचित्रवादित्रनिनादं बिभ्रती कोटिसमुद्रचमूरिव लङ्घितमर्यादा सौन्दर्यसिन्धुलहरीव नृहरेः समक्षं प्रचलितुं प्रचक्रमे ।

तत इति—ततस्तदनन्तरम् जगज्जनमनोमोहनाञ्जम् जगतां त्रयाणामपि लोकानां जनानां लोकानां मनो मोहयतीति मनोमोहनं तथाञ्जमिति जगत्त्रयमनुष्याणां मनसः सम्मोहनाय वशीकरणाञ्जमिव रूपं सौन्दर्यं बिभ्रती धारयन्ती भ्रूचा-

नेव चापौ धनुषी तयोर्निहिताः संहिता निशितास्तीक्ष्णाः विशिखा बाणा येन तं कटाक्षमिव अपाङ्गदर्शनमिव बिभ्रती मदमुदितेति मदेन मुदितस्य मातङ्गस्य गतेर्विलास इव विलासो यस्य तम् , चरणेति चरणयोः पादयोः रणतां क्वणतां मणिनिर्मितनूपुराणां विचित्रं विलक्षणं वादित्रनिनादं मृदंगादिवाद्यध्वनिं बिभ्रती, कोटिसमूहा चमूरिति कोटिसमूहचमूः कोटिसंख्याका सेना इत्यर्थः, सा इव, लङ्घिता उल्लङ्घिता मर्यादा स्थितिर्यया सा सौन्दर्यस्य सिन्धोः सागरस्य लहरी वीचिरिव सकलस्य सर्वस्य लावण्यस्य अधिष्ठानं निवासरता इन्दिरा सा श्रीः अपि नृहरेः नृसिंहस्य समक्षं प्रत्यक्षं प्रचलितुं गन्तुं प्रचक्रमे उद्यता बभूव । पृषत्कबाण-विशिखाः इत्यमरः । वादित्रं मृदङ्गादिवाद्ये इति शब्दस्तोममहानिधिः ।

इसके पश्चात् निखिल सौन्दर्य के निधान, करोड़ व्यक्तियों से घटित सेना की तरह मर्यादा का अतिक्रमण करती हुई, सौन्दर्यलहरी की भाँति उस इन्दिरा ने भी भगवान् के समक्ष चल पड़ने का उपक्रम किया, जिसका रूप सारे संसार के प्राणियों के मन को वशीभूत करने में मोहनास्त्र का कार्य करता है, जिसके कटाक्ष धनुषाकार भौंहों पर पड़े हुए तीखे बाण के से जान पड़ते हैं, जिसकी गति में मत्त मतङ्गज का गति-विलास झलकता है, जिसके चरणों में निरन्तर मणिमय नूपुर का निनाद झङ्कृत होता रहता है ।

अलङ्कार :—'भ्रूचाप' में रूपक तथा अन्यत्र कई स्थलों पर उपमा स्पष्ट है ।

एवमरविन्दविगलदमन्दमकरन्दविन्दुसन्दोहवदिन्दिरासुन्दरतरवदन-मधुराधरसुधासंबन्धनिःसृतमृदुतराक्षरनिकररचितकर्णरसायनस्य चिर-तरविरहसोत्कण्ठहृदयसम्भावितसंभोगारम्भसंभवतोषाभिलाषमिषेण क-मलाविमलमुखकमलमधुपानसादरनयनभृङ्गस्य विपुलपुलककुलकलित-कलेवरस्य भगवतः क्षणमन्तःकरणं शृङ्गाररसार्णवे मग्नमासीत् ।

एवमिति—एवमित्थमरविन्दात् कमलात् विगलन् क्षरन् यः अमन्दोऽत्य-धिको मकरन्दः पुष्परसः तस्य पृषतानां सन्दोहवत् समूहवत् इन्दिराया लक्ष्म्याः सुन्दरतरस्यात्यधिककमनीयस्य वदनस्याननस्य यो मधुरोऽधरोऽधरो दन्तच्छदः स एव सुधा पीयूषं तस्य संबन्धात् संकर्षात् निःसृतानां निर्गतानां मृदुतराणामतिसुकुमाराणां श्लक्ष्णानां वा अक्षराणां कचटतपादिवर्णानां निकरेण प्रकरेण रचितं कर्णयोः श्रोत्रयोः रसायनं जराव्याधिहरमौषधं, यस्य तस्य चिर-तरेण चिरकालिकेन विरहेण वियोगेन सोत्कण्ठमत्युत्सुकं यद् हृदयं तस्मिन् सम्भावितः यः सम्भोगारम्भस्य संभवः तेन यः तोषस्यातिशयानन्दस्याभिलाषः तस्य मिषेण वाञ्छाव्याजेन कमलाया लक्ष्म्या विमलस्यातिगौरस्य मुखकमलस्य वदनाब्जस्य मधुपाने अधररसपाने सादरे नयने नेत्रे एव भृङ्गौ मधुकरौ यस्य तस्य, विपुलैः प्रभूतैः पुलककुलैः रोमाञ्चसमूहैः कलितं व्याप्तं कलेवरं शरीरं यस्य तस्य

भगवतः श्रीनृसिंहस्य अन्तःकरणं स्वान्तं क्षणं मुहूर्तमात्रं शृङ्गाररसार्णवे शृङ्गाररससागरे मग्नं निमग्नमासीत् । मकरन्दः पुष्परस इत्यमरः ॥

इसके पश्चात् उक्त अवसर पर भगवान् का अन्तःकरण क्षण भर के लिए शृङ्गाररस के समुद्र में विलीन हो गया । कारण यह था कि उस समय अरविन्द से झरती हुई मकरन्द-बिन्दुओं की राशि सा प्रतीत होता हुआ इन्दिरा के सुन्दरतर वदन के मधुर-अधर में जो सुधा भरी है, उसके सम्पर्क से सुस्निग्ध निर्गत वचनावली उनके कानों में रसायन का सा काम कर रही थी, कमला का विमल मुख-कमल था और उससे छलकते हुए माधुर्य का पान करने के लिए इनके नेत्र भौंरों की तरह सादर टूट रहे थे। यह दिदृक्षा स्वाभाविक है, उस अवसर पर चिरकालीन विरह-जनित औत्कण्ठ्य के कारण समाविल सम्भोगमयी वृत्ति के हृदय में उद्भूत हो जाने के परिणाम स्वरूप जगा हुआ तोष एवं अभिलाष तो उस काल के लिए बहाना मात्र था, उनका सारा शरीर पुलकाङ्कुर से अङ्कित हो उठा था ।

अलङ्कार :—'मिषेण' से कैतवापह्नुति'। उपमा, रूपक एवं वृत्त्यनुप्रास की भी उत्तम छटा है ।

आश्लेषावसरे करेण न हरेर्हारः समुत्तार्यते ।
यल्लक्ष्म्या न तु वक्षसोऽन्तरभयव्याजेन यत्तन्मृषा ।
सूत्रालम्बितकौस्तुभप्रतिफलोन्मुखस्वकीयानुज-
प्रोद्भूताधिकलज्जयेत्यनुदिनं शङ्केऽस्तशङ्केक्षणम् ॥ ६ ॥

आश्लेषेति—आश्लेषावसरे समागमप्रसङ्गे लक्ष्म्याः श्रियः कथम् उरसः हरेः लक्ष्मीपतेः करेण हस्तेन हारः न समुत्तार्यते हारो नापनीयते इति यत् तत् अन्तरभयव्याजेन मानमोहोद्वेगहेतुना नापनीयते इति यदि कश्चिदाचष्टे तर्हि सा तन्मृषा तदसत् । हरिः समागमावसरे लक्ष्म्याः हारं नापनयति तत्र कश्चन शङ्कते यत् यदि हरिर्हारमपनयेत् तदा गाढालिङ्गनशङ्कया लक्ष्मीरुद्विजेत अतः हरिर्हारं नापनयति । परन्तु कविरत्रान्यदेवोत्प्रेक्ष्य हारानपनयनस्येदं कारणं मिथ्या इत्याह । तत्र हि हारानपनयनस्य वास्तविकं किं कारणमित्यपेक्षायामाह कविः सूत्रेति सूत्रे अवलम्बितस्य कौस्तुभस्य मणिविशेषस्य प्रतिफलनेन प्रकाशेन उन्मुखा धारिता या स्वकीयानुजस्य स्वभ्रातुः । कौस्तुभस्येत्यर्थः क्षीरसागरोत्पत्त्या लक्ष्मी कौस्तुभश्च परस्परमुभावपि भ्रातराविव प्रोद्भूता समुद्भूता अधिका लज्जा ह्रीः तया हेतुना हारो नापनीयते हरिणा इति हेतो अनुदिनमहर्दिवमस्तशङ्केक्षणम् अस्तशङ्के निर्गतशङ्के ईक्षणं लोचने यस्मिन् इति क्रियाविशेषणम् । लक्ष्मीलक्ष्मीपतिश्च परस्परं रमेते इति शङ्के मन्ये ।

[इस श्रृङ्गार रस के आवेश में भगवान् ने लक्ष्मी का आलिङ्गन किया]-इस आश्लेष के अवसर पर यद्यपि लक्ष्मी को यह उचित था कि गाढ़ आश्लेष में विघ्न डालने वाले हार को हटा दें, फिर भी उन्होंने अपने हाथ से भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार हटाया नहीं। हार के इस अनपयन में कुछ लोग यह बतलाते हैं कि उस आकस्मिक एवं हठात् आश्लेष के कारण लक्ष्मी के अन्तःकरण में भय एवं उद्वेग पैदा हो गया। इसी भय एवं उद्वेग के कारण लक्ष्मी उसे हटा न सकीं। कवि लोग इस कारण को उचित नहीं समझते। उन लोगों को तो निःशङ्क यह उत्प्रेक्षा है कि असल में लक्ष्मी को उस अवसर लज्जा आ गई। भगवान् के वक्षःस्थल पर पड़े हुए हार में कौस्तुभ मणि लटकता है। कौस्तुभ मणि एवं लक्ष्मी समुद्र की सन्तान हैं, अतः दोनों परस्पर भाई-बहन हैं। सारांश यह कि आश्लेष के अवसर पर साक्षात् भाई को सामने देखकर वे लज्जित हो गईं और लज्जित होने के कारण हार को हटा न सकीं।

अलङ्कारः—उत्प्रेक्षा।

छन्दः—१९ वर्णों का शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥ ६॥

सा पङ्केरुहवासिनी नरहरेरङ्केऽधिरूढा रहः
सङ्केतेन लयं गतेऽथ विरहातङ्के विशङ्केव सा।
कान्ताश्लेषविवृद्धसंभ्रमभरप्रोद्भूतबाष्पा स्फुरद्-
रोमाञ्चस्वरभेदवेपथुपृथुस्तम्भादिभिर्भूषिता॥ ७॥

सेति—प्रियसंगमार्थं गुप्तस्थाने संकेतः रहसि निर्जने संकेतस्तेन विरहातङ्के वियोगभये लयं गते विलीने सति विशङ्का विगता शङ्का सम्भ्रमो यस्याः सा नरहरेः नृसिंहस्य अङ्के अधिरूढा क्रोडमधिष्ठिता सा पङ्केरुहवासिनी सरसिजासना सा लक्ष्मीः कान्तेति कान्तस्य स्वपतेः आश्लेषेण आलिङ्गनेन विवृद्ध उपचितः यः संभ्रमभरः हर्षातिशयः तेन प्रोद्भूतमुत्पन्नं, बाष्पमानन्दाश्रु यस्याः सा सती लक्ष्मीः रोमाञ्चश्च स्वरभेदश्च, वेपथुश्च, पृथुस्तम्भश्च इत्येतेषामितरेतरयोगः ते आदौ येषां तैः रोमाञ्चादिभिः सात्त्विकविकारैः भूषिताऽलंकृता अभवदिति शेषः। 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यमरः। सात्त्विका विकारा यथा 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः' इति साहित्यदर्पणे॥

इति श्रृङ्गारः।

रमणोपयुक्त संकेत स्थान का निश्चय हो जाने से जब वियोग का आतङ्क जाता रहा, तब भगवान् के क्रोड में इन्दिरा निःशङ्क विराजित हुई और कान्त द्वारा किये गए

आश्लेष के फलस्वरूप हर्षातिशयजनित आनन्दाश्रु से परिपूर्ण लक्ष्मी रोमाञ्च, वैस्वर्य, वेपथु, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावों से भूषित हो उठीं।

विशेष :—इस श्लोक में सभी सात्त्विक भावों का वर्णन है ॥ ७ ॥

अथ शान्तः।

देवः सानन्दम् :—

परात्माहं मूलप्रकृतिरियमम्भोजनिलया
चिदानन्दाम्भोधौ चिरमथ विहारः समुचितः।
असङ्गोदासीने निरतिशयतोषैकवपुषि
प्रियं क्षुद्रानन्दैर्मयि किमु निमेषार्धगतिभिः ॥ ८ ॥

देव इति—तदनन्तरं देवः श्रीनरहरिरुवाच। अहं परात्मा परं ब्रह्मेति यावत्। इयं च अम्भोजनिलया अम्भोजं सरसिजं निलयोऽवासस्थानं यस्याः सा लक्ष्मी, मूलप्रकृतिरव्यक्तप्रकृतिरस्ति। अथ अथानन्तरम् आवयोः चिदानन्दाम्भोधौ चिदानन्दसागरे चिरं चिरकालं विहारो रमणं समुचितो युक्तः एवेत्यर्थः। तथापि अमयि 'असङ्गोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः सङ्गरहिते कमलपत्रतोयवत् इत्यर्थः अतएव उदासीने 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति श्रुतेः भोक्तृभोग्यरहिते, निरतिशयमत्यर्थं तोषः परमानन्द एव एकं वपुः शरीरं यस्य तस्मिन् आनन्दस्वरूपे इत्यर्थः मयि नृसिंहाख्ये परब्रह्मणि निमेषार्धगतिभिः निमेषार्धं गतिर्येषां तैः क्षणमप्यनवस्थायिभिरित्यर्थः एभिः क्षुद्रानन्दैः तुच्छैः सांसारिकैः सुखैः किमु प्रियम् किमिष्टम्। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि इति भावः।

प्रतिज्ञा के अनुसार यहाँ तक शृङ्गार रस का वर्णन किया गया। यहाँ से आगे शान्त रस का प्रस्ताव किया जा रहा है।

पश्चात् देवाधिदेव श्री नरहरि ने कहा—मैं स्वयं परब्रह्म हूँ और यह कमलासना मूलप्रकृति है। हम दोनों का चिदानन्द सागर में ही चिरकाल तक विहार समुचित है। जब यह स्पष्ट है कि मैं असङ्ग, उदासीन, आनन्दस्वरूप हूँ, तो फिर मुझे इस क्षण भर तक मिलने वाले क्षुद्र कोटि के लौकिक आनन्द से क्या ? अर्थात् इसकी मुझे कोई कामना नहीं।

छन्द :—शिखरिणी। यह १७ वर्णों का वर्णवृत्त है ॥ ८ ॥

किं मित्रं किममित्रतामुपगतं कः स्वः परो वाऽपि मे
का मे हर्षविषादितारिविजयश्लाघाविभङ्गश्च कः।
मानाशेषविकल्पविस्तृतसरिच्छातोर्मिमालश्चिरं
विज्ञानामृतवारिधिर्नयनयोरग्रे समुज्जृम्भते ॥ ९ ॥

किमिति—मे मम निरुपाधिकस्य परब्रह्मण इत्यर्थः किं मित्रं कः सुहृत्। किं मे अमित्रतामुपगतम् अर्थात् कः मे असुहृत्, मे मदर्थं स्वः निजः परः निजेतरः अपि कः। न मे कश्चिन्निजः नापि च मे कश्चन पर इत्यर्थः। न मे कश्चिन्मित्रं न च कश्चिच्छत्रुरित्यर्थः। 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति गीतास्मरणात्। हर्षेति हर्षश्च विषादश्च इति हर्षविषादौ तौ अस्य अस्मिन् वा वर्तेते इति स हर्षविषादी तस्य भावः हर्षविषादिता मे मम का हर्षविषादिता 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियं' इति हर्षविषादौ स्थितप्रज्ञस्य मुनेर्न स्मृतौ। मम अरेर्विजयस्य श्लाघा प्रशंसापि का, न कापीत्यर्थः। कश्च विभंगः पराजयोऽपि वा मम कः। मग्नाशेषेति अशेषा विकल्पा एव विस्तृता विततः सरितो नद्यः मग्नाश्च ता अशेषविकल्पविस्तृतसरितः, ताभिः छाता लूना ऊर्मिमालाः तरङ्गावलयः यस्य सः विज्ञानमेवामृतं तस्य वारिधिः सागरः, नयनयोर्नेत्रयोरग्रेऽध्यक्षं समुज्जृम्भते नरीनृत्यते विद्योतते वा। 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः'—इत्यमरः। छाता 'छिन्नं छातं लूनं कृत्त'मित्यमरः। छातमिति 'दुर्बले छिन्ने वा' इति शब्दस्तोममहानिधिः। छो छेदने इत्यस्मात् कर्मणि कर्तरि वा क्तः। यस्मिन् सर्वमपि विकल्पजातमन्तर्हितं भवति सर्वोऽपि द्वैतप्रपञ्च उपशाम्यति सोऽयं विज्ञानवारिधिरध्यक्षं चकास्तीति तत्र मित्रामित्रचर्चाया हर्षविषादजयपराजयादीनाम् वा विचारस्यावकाश एव, नोपतिष्ठते इति भावः।

हमारा कौन मित्र है? और कौन शत्रु? कौन अपना है और कौन पराया? मुझे हर्ष और विषाद कैसा? शत्रु-विजय से क्या श्लाघा? और पराजय से क्या (क्षोभ)? यहाँ तो नेत्रों के समक्ष विज्ञानामृत का वह अछोर समुद्र लहरा रहा है, जिसमें निखिल विकल्प-जात नदियों की भाँति निमग्न हो गया है।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडित। यह वर्णवृत्त १९ वर्णों का होता है ॥ ९ ॥

ततो युगपदुदितानेकप्रचण्डचण्डकरकोटिसमुज्ज्वलसुन्दरशारदिन्दुसहस्रशीतलसुधाधारासारमधुरपरानन्दैकरसं स्वयं वेद्यं स्वस्वरूपम्, अस्मिन् प्रगृह्यमाणे प्रचुरतरसुखानुभवनिमीलिताक्षः समुद्भूतसकल-

सात्त्विकोद्रेकभूषितांगो योगदशाधिरूढां शान्तिमिव परमहंससंसाधितां मूर्तिमतीं मुक्तिमिव सहचरीमादाय नरहरिरन्तर्दधे ॥

तत इति—ततस्तदनन्तरं युगपदेकपदे एव उदिताः समुदिताः या अनेकाः प्रचण्डानां चण्डकराणां तिग्मांशूनां कोटयः तावल्लघमिताः सख्याः तद्वत् समुज्ज्वलं, सुन्दराणां शरदिन्दूनां शरच्चन्द्राणां सहस्रवत् शीतलं सुधाधारासारवत् पीयूषप्रवाहवत् मधुरं, परानन्दैकरसं परब्रह्मास्वादानन्दः परमानन्द इत्यर्थः तदेकरसं तद्रूपं स्वयमात्मनैव वेद्यं ज्ञेयं अनुभवमात्रगम्यं न तु वागिन्द्रियगोचरमिति भावः। 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' इति श्रुतेः॥ अस्मिन् प्रगृह्यमाणे स्वात्मनोऽतीतानन्दे अनुभूयमाने प्रचुरतरस्य प्राज्यतरस्य सुखस्य सातस्य अनुभवेन निमीलिते इव अक्षिणी लोचने यस्य स आनन्दनिमीलिताक्ष इत्यर्थः। समुद्भूतस्य सकलस्य सात्त्विकस्य सत्त्वगुणादुद्भूतस्य भावस्य उद्रेकः वृद्धिः तेन भूषितानि अङ्गानि यस्य स विष्णुः योगदशाधिरूढां योगावस्थामापन्नां शान्तिमिव, परमहंसैः साधितां प्राप्तां मूर्तिमतीं देहधारिणीं मुक्तिमिव सहचरीं तां पद्मामादाय सह नीत्वा नरहरिः स विष्णु अन्तर्दधे तिरो बभूव।

भगवान् का अपना स्वरूप एक साथ उदित कोटि कोटि सूर्यों के समान समुज्ज्वल है, शारत्कालिक सैकड़ों चन्द्रों के समान शीतल है, पीयूष प्रवाह की तरह मधुर है, परमानन्द स्वरूप है तथा अनुभवमात्र से वेदनीय है। अपने इस सहज स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रचुरतर सुख की अनुभूति से आँखें निमीलित हो गईं, निखिल सात्त्विकभावों के उद्रेक से अंग अंग सजीव हो उठा। इस मुद्रा में भगवान् योगदशा में प्राप्त शान्ति की भाँति, परमहंस को प्राप्त हुई मूर्तिमती मुक्ति की भाँति अपनी सहचरी को लेकर अंतर्हित हो गए।

अलङ्कारः—मालोपमा।

मद्वाणी यदि शार्ङ्गिणो गुणगणव्याकर्णनोद्यत्सुधा-
स्वादाह्लादविवृद्धिभूरिरभसे नायेन हीनं पदम्।
कुत्राप्युच्चवती स्वतां भवति चेत् तत्साधवः! शोध्यतां
गुञ्जा मौक्तिकहारपुञ्जरचिता प्राज्ञैर्न किं त्यज्यते ॥ १० ॥

मद्वाणी इ—यदि शार्ङ्गिणः नरहरेः गुणानां गणस्य व्याकर्णनेन श्रवणेन उद्यन् उल्लसन् यः सुधास्वादः अमृतरसपानं तस्य यः आह्लादः परमानन्दः तस्य विवृद्धेः समृद्धेः भूरिरभसे प्रभूतसंवेगे मद्वाणी मम वाक् यदि कुत्रापि क्वचनापि यथेष्ट

स्वामिना (शार्ङ्गिणा) हीनं रहितं पदं शब्दं सुप्तिङन्तादिरूपम् उक्तवती कथितवती चेत् यदि हे साधवः! हे सन्तः! भवतां स्वता आत्मीयता भवति वर्तते भवन्तो यदि मामात्मीयं मन्यन्ते इत्यर्थः। तत्तर्हि शोध्यतां, तस्य शोधनं क्रियतां, न तत्र मम दोषो गण्यतां, यतोऽहं शार्ङ्गिगुणगणाकर्णनामृतरसपानमत्ततयाऽन्यत्रमना अभूवमिति भावः। किं प्राज्ञैः विद्वद्भिस्तज्ज्ञैरित्यर्थः, मौक्तिकहारपुञ्जपतिता मौक्तिकानां मुक्ताफलानां हारपुञ्जे पतिता गुञ्जा रक्तिका न त्यज्यते? अपि तु त्यज्यत एवेत्यर्थः। अत एव भवद्भिरपि तत्पदं परित्याज्यमिति ममेदमावेदनमति नम्रम् ॥

इस अंतिम श्लोक में कवि अपने वक्तव्य का उपसंहार करता हुआ विनय-गर्भ निवेदन प्रस्तुत करता है।

हे सज्जनवृन्द! भगवान् नृसिंह के गुण-गण-श्रवण से ऐसे सुधामय आनन्द की विवृद्धि हुई कि मैं उसमें तल्लीन हो गया और इस तल्लीनता में सम्भव है कोई ऐसा पद निकल गया हो, जिसमें भगवान् का स्मरण न हो, तो ऐसी स्थिति में मेरी प्रार्थना यह है कि मेरे प्रति आप लोग आत्मीय जन का सा भाव रखकर उस पद को शोधित कर लें। क्या पण्डित लोग मौक्तिकहार की राशि में पड़ी हुई गुञ्जा को अलग नहीं कर देते?

छन्द :—शार्दूलविक्रीडित। अलङ्कार :—दृष्टान्त।

आसीदस्तसमस्तदोषनिवहं गोदो विदर्भायुतेः।
कोरेनोत्तरतस्तदुत्तरतटे वार्याभिधानं पुरम् ॥ १ ॥
तत्रासीद् गणकाग्रणी.............श्रीनागनाथो द्विजः।
भारद्वाजकुलेऽथ तस्य तनयः श्रीजानराताभिधः ॥ २ ॥
यद्ग्रन्थान् समधीत्य शिष्यनिवहोऽप्याचार्यचर्यामगात्।
तत्सूनुर्गणितार्णवप्रतरणे सत्क.................सुधीः ॥
संगीतागमकाव्यनाटकपटुः सूर्याभिधानः कविः।
चम्पूकाव्यमिदं चकार चतुरं लक्ष्मीपतिप्रीतये ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्दैवज्ञपण्डितसूर्यविरचिते नृसिंहचम्पूकाव्ये पञ्चमोच्छ्वासः।

॥ श्रीलक्ष्मीनृसिंहार्पणमस्तु ॥

इष्वाकाशखपर्भैस्तैर्मिते वैक्रमहायने ।
नृसिंहचम्पूनाम्न्येऽस्मिन् व्यधात् सूर्यो विवेचनम् ॥ १ ॥

सत्याचारविवर्धनाय महता प्राचा प्रपञ्चाश्रिता ।
विद्यायोगपथे पृथुश्रमनुपा ग्रन्था न सन्तीति न ॥
एषा मत्कृतिरत्र कश्चन गुणो यद्यस्ति सम्भाव्यताम् ।
कर्ता चेश चिरन्तन क्रियमियता हीयत च सज्जना ॥ २ ॥

यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया ।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न दीयते ॥

यदक्षरपदभ्रष्टं स्वरव्यञ्जनवर्जितम् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव ! नृसिंहाय नमोऽस्तु ते ॥

शके १५८० भाद्रपदवदि ३ सोम वेदगर्भेणा लिखित श्रीधराश्रमेण ।

श्रीलक्ष्मीनृसिंहार्पणमस्तु ।

नृसिंहचम्पूनाम्न्ये गणितश्लोकसंख्या शत २०० सम्पूर्णमस्तु ।

नृसिंह चम्पू का पञ्चम उच्छ्वास समाप्त ।



समाप्तश्चायं ग्रन्थः



श्लोकानुक्रमणिका